॥ श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नम ॥

# शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय

और

उसकी व्याख्या

# स्याद्वाद-कल्पलता

का

## हिन्दी विवेचन

[स्तबक ३]


मूलग्रन्थकार-
१४ ४ ग्रन्थप्रणता-विद्वद्‌मूर्धन्य
जैनाचार्य श्रीहरिभद्रसूरि महाराज

व्याख्याग्रन्थकार-
न्यायविशारद-न्यायाचार्य-जैनशासनरत्न
महोपाध्याय श्रीयशोविजय महाराज

हिन्दी विवेचनकार
न्याय-वेदान्ताचार्य-पण्डितराज
श्रीबदरीनाथशुक्ल
[वाइसचांसलर-सम्पूर्णानंदसंस्कृतविश्वविद्यालय]
वाराणसी

हिन्दी विवेचन अभिवीक्षक
जैनाचार्य न्यायदर्शनतत्त्वज्ञ-तपोरत्नमहोदधि
श्रीमद् विजयभुवनभानुसूरिमहाराज



- प्रकाशक -
दिव्यदर्शन ट्रस्ट
कुमारपाल वि. शाह-गुलालवाडी-मुंबई ४

卐 अर्हं 卐

# ❀ शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ❀

## तृतीयः स्तवकः



( मङ्गल )

(टी०)–सर्वः शास्त्रपरिश्रमः शमवतामाकालमेकोऽपि यत्–
साक्षात्कारकृते धृते हृदि तमो लीयेत यस्मिन्मनाक् ॥
यस्यैश्वर्यमपङ्किलं च जगदुत्पाद-स्थिति-ध्वंसनैः ।
तं देव निरवग्रहग्रहमहाऽऽनन्दाय वन्दामहे ॥ १ ॥

---

[ निष्कलंक ईश्वर को प्रणाम ]

जिस देव का प्रत्यक्ष दर्शन करने के उद्देश से शमसपन्न साधुपुरुषो का शास्त्रसंमत सपूर्ण परिश्रम एकमात्र भगवन्मुख होकर आजीवन चलता रहता है, अर्थात् जिस के दर्शन के लिए शमसंपन्न साधुओ एकमात्र ईश्वरपरायण होकर शास्त्र की रीत से जीवन-पर्यन्त या अनेक जीवन-पर्यन्त कठोर परिश्रम करते रहते हैं और हृदय मे जिसका किञ्चिन्मात्र स्फुरण हो जाने पर हृदय का सपूर्ण अज्ञान-अधकार विलीन हो जाता है और जिसका ऐश्वर्य जगत् के उत्पादन-पालन और सहार के व्यापार से कलुषित नही होता–

–उस देव का हम निष्प्रतिबन्ध (निरावरण) ज्ञान युक्त महान् आनन्द के लिए अभिवादन करते हैं ।

इस मगल श्लोक से जैन दर्शन की कई महत्वपूर्ण दृष्टीया स्पष्ट होती हैं, जैसे-वीतराग भगवान का साक्षात्कार करने के लिए साधक को सर्व प्रथम शमसपन्न होना चाहिये । शम का अर्थ है क्रोध-लोभादिकषायो का उपशम जिसमे समाविष्ट है ससार के विषयो मे आसक्ति का परित्याग । मनुष्य जब तक सासारिक भोगो से उदासीन न होगा-या सासारिक विषयो मे जब तक उस के मन का आकर्षण शिथिल न होगा तब तक विषय जनित कषाय मद न होने से ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए वह योग्य नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि शमसपन्न होने पर भी उसे भगवन्मुख होना आवश्यक है क्योकि शम होने पर भी यदि मनुष्य भगवन्मुख न होगा तो उस का शम स्थायी न हो सकेगा । ससार का चाकचिक्य एक दिन उसको अवश्य विचलित कर देगा, क्योकि मनुष्य का मन सदा कोई न कोई आलबन चाहता है । अत उसे भगवान का आलबन न दिया जायगा तो विवश होकर वह किसी

सामग्र्यामीश्वरोऽपि निविशत इति वार्त्तान्तरमाह—

मूलम्-ईश्वरः प्रेरकत्वेन कर्ता कैश्चिदिहेष्यते ।
अचिन्त्यचिच्छक्तियुक्तोऽनादिसिद्धश्च सूरिभिः ॥१॥

इह=सामग्र्याम्, कैश्चित् सूरिभिः=पातञ्जलाचार्यैः, प्रेरकत्वेन=परप्रवृत्तिजनकत्वेन

---

सांसारिक आलवन को ग्रहण कर लेगा और फिर ईश्वर के दर्शन की आशा उसके लिए एक दिवा-स्वप्नमात्र रह जायगी । दूसरी वात यह है कि ईश्वर के दर्शनार्थ साधना करने वाले व्यक्ति का जीवन शास्त्र पर आधारित होना चाहिये और उसके समस्त व्यापार शास्त्र के विधि-निषेधो से नियन्त्रित होना चाहिए । यदि साधक के पास शास्त्र का आलोक न रहेगा तो कभी भी वह मोह के अधकार मे गिर सकता है ।

तीसरी वात यह है कि साधक को अपने साधनामार्ग पर चलने के लिए वडा धैर्यवान् होना चाहिए । लक्ष्य की प्राप्ति मे विलम्ब होने पर भी उसे किञ्चित् विचलित न होना चाहिए । हो सकता है कि उसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जीवन भर अथवा कई जन्मो तक अपनी आध्यात्मिक यात्रा चालु रखनी पडे ।

चौथी वात और महत्व की है जो यह है कि वीतराग सर्वज्ञ भगवान का किञ्चितमात्र स्मरण होने से ही साधक का हृदयाधकार दूर हो जाता है क्योकि उस से साधक की आशा वलवत्तर होती है । और विश्वास होता हे कि अपने मार्ग पर चलने पर भगवान का आशिक दर्शन शीघ्र भी हो सकता है और उस दर्शन से ही उसके हृदय का अज्ञान तम दूर हो सकता है जो कि उस की अग्रिम यात्रा मे उसे भयप्रद हो सकता हे और निराशा के आवर्त मे उद्भ्रान्त भी कर सकता है ।

पाचवीं वात-जैन शासन के महान सिद्धांत का अवद्योतन करती है । वह यह कि जैन शासन मे न्याय दर्शन के समान ईश्वर को जगत का कर्ता-भर्ता और हर्ता नहीं माना जाता । क्योकि जगत उत्पादन पालन और विनाश का कर्तृत्व यदि ईश्वर मे माना जायेगा तो उसमे राग द्वेषादि का सम्वन्ध अवश्य मानना होगा क्योकि जिस मे रागद्वेषादि का सवध नहीं होता वह जीव हिंसक आरंभ समारमादि कुछ भी व्यापार नहीं कर पाता और यदि राग द्वेष आदि होगा तो उसका ऐश्वर्य निश्चितरूप से कलकित हो जायगा क्योकि उस स्थिति मे उस मे सासारिक की अपेक्षा कोई वैशिष्ट्य न होगा ।

छट्ठी वात जो कही गई है उस से ईश्वर के अभिवादन का मुख्य लाभ सूचित होता हे । और वह हे निरावरण अनत ज्ञान युक्त विशुद्ध अक्षय आनद की निर्वाध प्राप्ति । इस कथन से यह संकेत किया गया प्रतीत होता है कि ईश्वर-अभिवादन से मनुष्य को यद्यपि उसके लौकिक अभीष्ट प्राप्त होते हैं किन्तु मनुष्य को उसे भगवान के अभिवादन का लक्ष्य नहीं रखना चाहिए । अन्यथा उस के मुख्य लक्ष्य अनंत ज्ञान व महान आनंद की प्राप्ति से मनुष्य वचित रह जायगा । अत. लौकिक अभीष्ट को उसे आनुषगिक रूप मे ही ग्रहण करना चाहिए ।

आद्य मूल कारिका मे अन्य शास्त्रो के इस मत का उल्लेख किया गया है कि जगत् की उत्पत्ति जिस कारणसामग्री से होती हे उस मे ईश्वर का भी समावेश है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

ईश्वरः कर्तेष्यते । कीदृशः ? इत्याह–अचिन्त्या=इन्द्रियादिप्रणालिकां विनाऽपि यथावत्सर्वविषयावच्छिन्ना या चिच्छक्तिश्चेतना, तया युक्तः-तदाश्रयः, तथा अनादिसिद्धश्च कदापि बन्धाभावात् । त्रिविधो हि तैर्बन्ध उच्यते, प्राकृतिक-वैकारिक-दाक्षिणभेदात् । तत्र प्रकृतावात्मताज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, यान् प्रतीदमुच्यते—

"पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ।" इति । ये तु विकारानेव भूतेन्द्रियाऽहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते, तेषां वैकारिको बन्धः. यान् प्रतीदमुच्यते–

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं, सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥ १ ॥
बौद्धाः शतसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।" इति ।

इष्टापूर्ते दाक्षिणो बन्धः, पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति । इयं च त्रिविधापि बन्धकोटिरीश्वरस्य मुक्ति प्राप्यापि भवे पुनरेष्यतां प्रकृतिलीनत्वज्ञानानां

## [ पातञ्जल के मतानुसार ईश्वर का स्वरूप ]

पातञ्जल दर्शन मे निष्ठा रखने वाले विद्वानो ने यह माना है कि जगत्उत्पादकसामग्री मे ईश्वर भी प्रविष्ट है क्योकि जगत के अन्य अचेतन कारणो का प्रेरक होने से वही जगत् का कर्ता है। उस की चेतना शक्ति अचिन्त्य है, क्योकि इन्द्रियादि ज्ञान साधनो के विना भी सपूर्ण विषयों से उस का सवन्ध हे । अर्थात् ईश्वर साधननिरपेक्ष सर्वविषयक शाश्वतज्ञान का आश्रय है और अनादिसिद्ध नित्यमुक्त है क्योकि उस मे कभी भी बन्ध समवित नहीं है ।

कहने का आशय है कि बन्ध के तीन भेद होते हैं-(१)प्राकृतिक (२) वैकारिक (३) दाक्षिण्य ।

## ( तीन प्रकार का बन्ध )

जो लोग प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी को आत्मरूप मे उपासना करते है उन्हे प्राकृतिक वन्ध होता है और वे प्रकृति मे आत्मचिन्तन करने के फलस्वरूप पूरे शतसहस्र (१००,०००) वर्ष तक प्रकृति से मुक्त कल्प होकर अवस्थित रहते हैं ।

और जो प्रकृति के कार्यभूत-इन्द्रिय-अहकार और बुद्धि तत्त्व को आत्मा समझकर उन्हीं की आत्मभाव से उपासना करते है उन्हे वैकारिक बन्ध होता हे । उन मे इन्द्रिय मे आत्मभाव का चिन्तन करने वाले दशमन्वन्तरकाल तक निर्दु ख रहते है । और भूतो का आत्मभाव से चिन्तन करने वाले भौतिक कहे जाते हें । जो १०० सौ वर्ष तक निर्दु ख होकर रहते है । और अहकार को आत्मरूप से चिन्तन करने वाले आभिमानिक कहे जाते हैं। वे सहस्रवर्ष तक निर्दु ख रहते हैं। और जो बुद्धि तत्त्व को आत्मभाव से देखते हें और उसी के आत्मरूप मे उपासक होते है वे सहस्र वर्ष तक दु खमुक्त रहते हैं । इस प्रकार अनात्मा मे आत्मदर्शियो की मुक्तावस्था अनित्य होती है ।

१ बौद्धा -बुद्धिशब्दाच्छैषिकोऽण् ॥

योगिनामिव नोत्तरा न वा पूर्वा संसारिमुक्तात्मनामिव, इति निर्बाधमनादिसिद्धत्वम् । तथा चाह पतञ्जलिः–"क्लेश-कर्मविपाका-ऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः(योगसू॰ २-४)" इति । क्लेशाः=अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः । कर्माणि शुभाऽशुभानि । तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । आशयाः=नानाविधास्तदनुगुणाः संस्काराः । तैरपरामृष्टोऽसंस्पृष्टः सर्वज्ञतया भेदाऽग्रहनिमित्त-काऽविद्याऽभावात् , तस्या एव च भवहेतुसर्वक्लेशमूलत्वात् । तथा च सूत्रम्–"अविद्या क्षेत्र-मुत्तरेषां प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नो दाराणाम्" (योगसूत्र २-४) इति । अनभिव्यक्तरूपेणावस्थानं सुप्तावस्था, अभिव्यक्तस्यापि सहकार्यभावात् कार्याऽजननं तन्ववस्था, अभिव्यक्तस्य जनित-कार्यस्यापि केनचित् बलवता सजातीयेन विजातीयेन वा लब्धवृत्तिकेनाऽभिभवात् भविष्यद्-वृत्तिकत्वेनावस्थानं विच्छिन्नावस्था । अभिव्यक्तस्य प्राप्तसहकारिसंपत्तेरप्रतिबन्धेन लब्धवृत्ति-कतया स्वकार्यकरत्वमुदारावस्था । तत्राद्यमवस्थाद्वयं प्रतिप्रसवाख्येन निर्बीजसमाधिना हीयते, अन्त्यं तु शुद्धसत्त्वमयेन भगवद्ध्यानेनेति । 'अविद्याऽभावात् तन्नाशजन्यं कथं तत्त्वज्ञानं तस्य ?' इति चेत् । अत एव नित्यं तत् , नित्यज्ञानवत्त्वादेव चायं कपिलप्रभृतिमहर्षीणामपि गुरुः ॥१॥

---

इष्ट और पूर्त्त को दक्षिण बन्ध कहा जाता है । इष्ट का अर्थ है वेद मे वर्णित विविध यज्ञ और पूर्त का अर्थ है पुराणो मे वर्णित परोपकार के कार्य जैसे वाटिका वावडी कूप धर्मशाला आदि का निर्माण । जो आत्मा के वास्तव स्वरूप को नहीं जानता वह यज्ञ और परोपकारक कार्यों की अभिलाषा से उन कार्यो मे मनोयोगपूर्वक व्यापृत होता है और बन्धनों से आबद्ध होता है ।

ये तीनो बन्धो की दो कोटि होती है–पूर्व कोटि और उत्तर कोटि । जे योगी जो प्रकृति आदि मे आत्मचिन्तन कर प्रकृति मे लीन हो कर मुक्ति प्राप्त करते हैं उनको मुक्ति की अवधि समाप्ति होने पर ससार मे पुन आना पडता है अत वह उक्त बन्धो की उत्तर कोटि को प्राप्त करते हैं और जो ससारी जीव आत्मा का वास्तव स्वरूप का साक्षात्कार करके मुक्त होते हैं उन्हे उन बन्धो की पूर्व कोटि होती है, उत्तर कोटि नहीं होती, क्योंकि मुक्ति के बाद उन्हे किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता । ईश्वर मे बन्ध की ये दोनो हि कोटिया नहीं होती इसलिए वह निर्बाध रूप से नित्य मुक्त होता है। जैसा कि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन मे कहा है कि 'जो पुरुष क्लेश कर्म-विपाक और आशयो से कभी भी सयुक्त नहीं होता वह पुरुषविशेष ही ईश्वर है ।'

## [ क्लेश-कर्म और विपाक का स्वरूप ]

क्लेश का अर्थ है अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष और अभिनिवेश । कर्म का अर्थ है पुण्य और पाप । विपाक का अर्थ है जन्म-आयु और भोग रूप कर्मफल । और आशय का अर्थ है जन्म आयु और भोग के प्रयोजक अनेक प्रकार के सस्कारो का निधि । ईश्वर मे इन वस्तुओ का सम्पर्क नहीं होता क्योकि वह सर्वज्ञ होता है इसलिए उस मे आत्मा और अनात्म के भेद का अज्ञान नहीं होता । इसीलिए अनात्मा मे आत्मा के तादात्म्य की बुद्धिरूप अविद्या भी उसमे नहीं रहती । और जब उस मे अविद्या ही नहीं होती तो उसमे अन्य क्लेशो के सम्पर्क की समावना कैसे हो सकती है ? क्योकि अविद्या ही जगत् के हेतुभूत सम्पूर्ण क्लेशो का मूल है । जहा मूल ही नहीं है वहा उसके कार्य कैसे हो सकते है ?

तदिदमाह—

मूलम्-ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥२॥

यस्य=जगत्पतेर्ज्ञानम्, अप्रतिघम्=नित्यत्वेन सर्वविषयत्वात् क्वचिदप्यप्रतिहतम् । वैराग्यं च=माध्यस्थ्यं च रागाभावादप्रतिघम् । चः समुच्चयो एवोऽवधारणे, ऐश्वर्यं पारतन्त्र्याऽभावादप्रतिघम्, तच्चाष्टविधम्-अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम् वशित्वम्,

---

यह बात योगसूत्र मे इस प्रकार कही गई है कि "प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार ये सभी प्रकार के उत्तरभावि क्लेशो की जन्मभूमि अविद्या है। सुप्तावस्था का अर्थ है अप्रकटरूप मे क्लेश की अवस्थिति, तनु अवस्था का अर्थ है प्रकट होने पर भी सहकारी कारण का सनिधान न होने से कार्य को उत्पन्न करने की असमर्थता। और विच्छिन्नावस्था का अर्थ है अभिव्यक्त होकर और अपने कार्य को उत्पन्न करके भी किसी बलवान एव लब्धवृत्तिक सजातीय अथवा विजातीय पदार्थ से अभिभूत -वृत्तिहीन होकर भविष्य मे सवृत्तिक होने के लिए अवस्थित रहना। और उदार अवस्था का अर्थ है-अभिव्यक्त होकर एव सहकारियों का सनिधान प्राप्त कर एव कोई प्रतिबन्धक न होने से अपने कार्य को उत्पन्न करने का अवसर प्राप्त कर अपने कार्य का सम्पादन करना। इन अवस्थाओ मे पहली दो अवस्थाओ की निवृत्ति निर्बीज समाधि से होती है जिसे प्रतिप्रसव कहा जाता है। और अन्तिम दो अवस्थाओ की निवृत्ति भगवान के शुद्धसत्त्वमय ध्यान से होती है।"

ईश्वर को तत्त्वज्ञ मानने पर प्रश्न होता है कि जब ईश्वर मे अविद्या ही नही होती तो उस मे तत्त्वज्ञान कैसे होता है ? क्योकि तत्त्वज्ञान अविद्या के नाश से होता है किन्तु ईश्वर मे अविद्या न होने से उस का नाश भी उसमे नहीं हो सकता और इसके फलस्वरूप तत्त्वज्ञान की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ईश्वर मे अविद्या और अविद्या का नाश न होने के कारण ही उसका तत्त्वज्ञान नित्य होता है और नित्यज्ञान का आश्रय होने से ही वह कपिलादि महर्षियो का भी गुरु होता है।

दूसरी कारिका मे पूर्व कारिका के कथन को ही पुष्ट किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

## [ ईश्वर का सहजसिद्ध चतुष्टय ]

ईश्वर जगत् का स्वामी है। उसका ज्ञान नित्य एवं सर्वविषयक होने से किसी काल और किसी विषय मे प्रतिहत नहीं है। उसका वैराग्य-माध्यस्थ्य भी उस मे राग न होने से कहीं भी प्रतिहत नहीं है। अर्थात् उसमे किसी भी चेतन अथवा अचेतन वस्तु के प्रति राग और द्वेष न होने से वह सबके प्रति तटस्थ है और उसमे किसी प्रकार की परतन्त्रता न होने से उस का ऐश्वर्य भी अप्रतिहत है।

उसके ऐश्वर्य का आठ प्रकार हैं—[1]अणिमा, [2]लघिमा, [3]महिमा, [4]प्राप्ति, [5]प्राकाम्य [6]वशित्व [7]ईशित्व [8]यत्र कामावसायित्व ।

ईशित्वम्, यत्रकामावसायित्वं चेति । यतो महानणुर्भवति सर्वभूतानामप्यदृश्यः, सोऽणिमा । यतो लघुर्भवति सूर्यरश्मीनप्यालम्ब्य सूर्यलोकादिगमनसमर्थः, स लघिमा । यतोऽल्पोऽपि [1]नाग-नगादिमानो भवति, स महिमा । यतो भूमिष्ठस्याप्यङ्गुल्यग्रे गगनस्थादिवस्तुप्राप्तिः, सा प्राप्तिः । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, यत उदक इव भूमावुन्मज्जति निमज्जति च । वशित्वम्-यतो भूत-भौतिकेषु स्वातन्त्र्यम् । ईशित्वम्-यतस्तेषु [2]प्रभव-स्थिति-व्ययानामीष्टे । यत्रकामावसायित्वम्-यतः सत्यसंकल्पता भवति, यथेश्वरसंकल्पमेव भूतभावादिति । धर्मश्च प्रयत्न-संस्काररूपोऽधर्माभावादप्रतिघः । एतच्चतुष्टयं सहसिद्धम्-अन्यानापेक्षतयाऽनादित्वेन व्यवस्थितम् । अत एव नेश्वरस्य कूटस्थताव्याघातः, जन्यधर्माऽनाश्रयत्वादिति बोध्यम् ॥२॥

तस्य कर्तृत्वे युक्तिमाह—

(१) जिस शक्ति से महान वस्तु अणु हो कर अन्य प्राणियो के लिए अदृश्य बन जाती है वह शक्ति अणिमा कही जाती है ।

(२) जिस शक्ति से गुरु वस्तु लघु हो कर सूर्य की किरणो के सहारे सूर्यलोक आदि तक जाने मे समर्थ हो जाती है वह शक्ति लघिमा कही जाती हैं ।

(३) जिस शक्ति से लघु परिमाण की वस्तु हाथी और पर्वत आदि के समान विराट हो जाती हैं वह शक्ति महिमा कही जाती हैं ।

(४) जिस शक्ति से भूमि मे स्थित भी मनुष्य अपनी अंगुली के अग्र भाग से आकाशस्थ वस्तु का स्पर्श कर सकता है वह शक्ति 'प्राप्ति' कही जाती हैं ।

(५) प्राकाम्य का अर्थ है इच्छा का अभिघात न होना । इस शक्ति से मनुष्य जल के समान स्थल मे भी भीतर और बाहर आ जा सकता है ।

(६) वशित्व का अर्थ है भूत और भौतिक वस्तुओ के विषय मे स्वातन्त्र्य । इस शक्ति से मनुष्य भूत और भौतिक पदार्थो का यथेष्ट विनियोग कर सकता है।

(७) ईशित्व का अर्थ है वह सामर्थ्य जिस से मनुष्य भूत और भौतिको के उत्पादन पालन और विनाश करने मे समर्थ होता हैं ।

(८) यत्र कामावसायित्व का अर्थ है सत्य सकल्पता । इसी शक्ति के कारण जगत् के सम्पूर्ण भूत और भौतिक पदार्थ ईश्वर के संकल्पानुसार ही होते हैं ।

धर्म का अर्थ है प्रयत्नरूप सस्कार । ईश्वर मे अधर्म नहीं होने से उस का धर्म भी पूर्ण रूप से अप्रतिहत होता है ।

इस प्रकार ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य और धर्म-ये चारो चीजें ईश्वर मे सहसिद्ध-नित्य सिद्ध हैं अर्थात् अन्य निरपेक्ष होने के कारण ये चारो अनादि हैं। इसीलिए ईश्वर की कूटस्थता भी व्याहत नहीं होती हैं, क्योकि वह जन्य धर्म का आश्रय नहीं होता।

तीसरी कारिका मे ईश्वर के कर्तृत्व की साधक युक्ति बताई गई हैं । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

१ नागो-हस्ती, नगः-पर्वत । २ 'स्मृत्यर्थदयेशः" ॥ २।३।५२॥ इति सूत्रेण कर्मसंज्ञाया विकल्पेन पक्षे षष्ठी ।

मूलम्–अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥३॥

अयं=संसारी जन्तुः, आत्मनः सुख-दुःखयोर्जायमानयोः, अनीशः=अकर्ता, यतोऽज्ञः =हिताऽहितप्रवृत्ति-निवृत्त्युपायानभिज्ञः, अतः स्वर्गं वा, श्वभ्रमेव वा=नरकमेव वा, ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, अज्ञानां प्रवृत्तौ परप्रेरणाया हेतुत्वावधारणात्, पश्वादिप्रवृत्तौ तथादर्शनात्, अचेतनस्यापि चेतनाधिष्ठानेनैव व्यापाराच्च । अत एव–

"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥१॥" [ गीता- ]

इत्यागमेन सर्वाधिष्ठानत्वं भगवतः श्रूयते, इति पातञ्जलाः ।

नैयायिकास्तु वदन्ति–

"कार्या-ऽऽयोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥१॥" [न्या०कु०५-१] इति ।

( पातञ्जलमतानुसार ईश्वर का जगत्कर्तृत्व )

संसारी जीव को अपने सुखदु ख के उपाय का ज्ञान नही होता । 'क्या करने से उस का हित होगा और क्या करने से उस का अहित होगा ?' इस बात को वह स्वय नही सोच पाता । इसलिये अपने सुखदुख का वह कर्ता नहीं हो सकता । अत एव यह मानना आवश्यक है कि जीव ईश्वर की प्रेरणा से ही ऐसे कर्म करता है जिन से स्वर्ग अथवा नरक की प्राप्ति होती है, क्योंकि अज्ञो की प्रवृत्ति मे यह प्रेरणा ही कारण होती है–यह सर्व विदित है । पशु आदि की प्रवृत्ति लोक मे प्रेरणा से ही देखी जाती हे । यह भी नहीं कहा जा सकता कि–जीव अपने सुख-दुख का उपाय न जानने के कारण अपने सुख-दुख का सपादन स्वय भले न कर सके परन्तु प्रकृति अथवा बुद्धि के व्यापार से उसे सुख-दुख होने मे कोई बाधा नही हो सकती' । यह कहना इसलिये सभव नहीं हैं कि प्रकृति एव बुद्धि स्वभावत अचेतन होती है, अत एव चेतन के सम्पर्क के विना वह भी सव्यापार नही हो सकती क्योकि लोक मे चेतन वढई आदि के सम्पर्क से ही अचेतन कुठारादि मे काष्ठच्छेदन के व्यापार का होना देखा जाता हैं । इसीलिए गीता मे श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा हैं कि–प्रकृति सर्वाध्यक्षभूत हमारे सम्पर्क से ही चराचरात्मक जगत् का सर्जन करती है । मै ही तापक हू और मै ही जल के अवर्षण और वर्षण का कारण हूँ ।'

ईश्वर के कर्तृत्व के सम्बन्ध मे पातञ्जलो का यही सक्षिप्त दृष्टिकोण है ।

( जगत्कर्तृत्व मे नैयायिको का अभिगम )

नैयायिको का इस सम्बन्ध मे दृष्टिकोण दूसरा है । वह ईश्वर को परप्रेरक के रूप मे कर्ता न मानकर साक्षात् उसी को विश्व का कर्त्ता मानते हैं । उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलिग्रन्थ मे 'कार्यायोजनधृत्यादे ०' इस कारिका से ईश्वर मे कर्तृत्व मे सिद्ध करने वाले अनेक अनुमानो का

अस्याऽर्थः-कार्यादीश्वरसिद्धिः, 'कार्यं सकर्तृकम् कार्यत्वात्' इत्यनुमानात्। न च कार्यत्वस्य कृतिसाध्यत्वलक्षणस्य क्षित्यादावसिद्धिरिति वाच्यम्, कालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वे सति, प्रागभावप्रतियोगित्वे सति, ध्वंसप्रतियोगित्वे सति वा सत्त्वस्य हेतुत्वात्। पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाच्च न कार्यस्य घटादेः सकर्तृकत्वसिद्ध्वांऽशतः सिद्धसाधनम्, न वा पक्षतावच्छेदकस्य हेतुत्वं दोषः, 'कार्यत्वं साध्यसमानाधिकरणम्' इति सहचारग्रहेऽपि 'कार्यं सकर्तृकम्' इति बुद्धेरभावाच्च।

---

संकेत किया है। उन मे कार्य से ईश्वर का अनुमान पहला अनुमान है जिस का प्रयोग इस प्रकार होता है-

### [ कार्य-हेतुक अनुमान ]

'कार्य सकर्तृक होता है क्योंकि वह कार्य है'–इस अनुमानप्रयोग के द्वारा 'कार्य' हेतु से ईश्वर की सिद्धि होती है। इस पर यह शका हो सकती है कि—'कार्यत्व हेतु का अर्थ है कृतिसाध्यत्व और वह पक्ष के अन्तर्गत आनेवाले क्षित्यादि मे असिद्ध है। इसलिए कार्यत्व हेतु के भागासिद्ध हो जाने से उससे सपूर्ण कार्य मे सकर्तृकत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसके लिये समस्त कार्य मे हेतु का होना आवश्यक है"।–किन्तु यह शका कार्यत्व हेतु का निम्नोक्त रूप मे निर्वचन कर देने पर निर्मूल हो जाती है। जैसे-कार्यत्व का अर्थ है कालवृत्ति-अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होते हुए भावात्मक होना। इस प्रकार का कार्यत्व क्षित्यादि मे विद्यमान है क्योंकि क्षित्यादि भावात्मक है और क्षित्यादि उत्पत्ति के पूर्वकाल मे और क्षित्यादिविनाशकाल मे उसका अत्यन्ताभाव होने से वह कालवृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। कार्यत्व के इस परिष्कृत स्वरूप मे सत्त्व-भावात्मकत्व का सनिवेश ध्वस मे व्यभिचार वारण करने के लिये आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि–"प्राचीन नैयायिक मत मे ध्वस और प्रागभाव के साथ अत्यन्ताभाव का विरोध होने से क्षित्यादि का अत्यन्ताभाव उस के उत्पत्ति के पूर्वकाल तथा विनाशकाल मे नही रह सकता क्योंकि पूर्वकाल मे उस के अत्यन्ताभाव का विरोधी उसका प्रागभाव और विनाशकाल मे अत्यन्ताभाव का विरोधी ध्वस विद्यमान होता है। क्षित्यादि के अस्तित्वकाल मे भी क्षित्यादि का अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता क्योंकि उस समय क्षित्यादि स्वय ही अपने अत्यन्ताभाव का विरोधी विद्यमान होता है। अत. क्षित्यादि मे कालवृत्तिअत्यन्ताभावप्रतियोगित्व सभव न होने से उक्त कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है। नवीन नैयायिक मत मे भी उक्त कार्यत्व हेतु से सकर्तृत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि नित्यद्रव्य कालिक सम्बन्ध से किसी मे भी नहीं रहता' इस मत के अनुसार नित्यद्रव्य कालवृत्तिअत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भावात्मक वस्तु है किन्तु सकर्तृक नहीं है। इस प्रकार नित्यद्रव्यो मे उक्त कार्यत्व हेतु मे सकर्तृकत्व का व्यभिचार स्पष्ट है।

### (कार्यत्व प्रागभावप्रतियोगिसत्त्व)

इस दोष का परिहार करने के लिये कार्यत्व को 'प्रागभाव-प्रतियोगित्वे सति सत्त्व' के रूप मे परिष्कृत करना आवश्यक है, किन्तु प्रागभाव न मानने वाले दीधितिकार आदि के मत मे प्रागभाव घटित हेतु असिद्ध हो जाने से उक्तानुमान के द्वारा क्षित्यादि सकर्तृकत्व की सिद्धि नहीं होती। तथापि 'ध्वस प्रतियोगित्वे सति सत्त्व' को कार्यत्व मानकर उस से सपूर्ण कार्य मे सकर्तृकत्व का अनुमान करने मे कोई

ननु तथापि सकर्तृकत्वं यदि कर्तृसाहित्यमात्रम्, तदाऽस्मदादिना सिद्धसाधनम्, यदि च कर्तृजन्यत्वम् तदा बाधोऽपि, ज्ञानादेरेव जनकतया कर्तुरजनकत्वादिति चेत् ? न, प्रत्यक्षजन्यत्वत्वेच्छाजन्यत्वत्वादिना साध्यतायामदोषात् । अदृष्टाऽद्वारा जन्यत्वस्य विशेष्यता-संबन्धावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिकसमवायावच्छिन्नजन्यत्वस्य वा साध्यत्वाच्च नाऽदृष्टजनका-स्मदादिज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनम्, अर्थान्तरं वा

बाधा नहीं हो सकती है । यद्यपि-पक्षान्तर्गत आनेवाले घटादि कार्यो मे सकर्तृकत्व की सिद्धि होने से अंशत सिद्धसाधन होता है अर्थात् कार्यत्वरूप पक्षतावच्छेदक के आश्रय विशेष मे सकर्तृत्वरूप साध्य की सिद्धि होने से कार्य मे सकर्तृकत्व अनुमान का प्रतिरोध प्रसक्त होता है-किन्तु प्रस्तुत अनुमान मे उसे दोष नही माना जाना है क्योकि प्रस्तुत अनुमान मे पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्या-नुमिति अर्थात् यावत् पक्ष मे साध्यानुमिति उद्दिष्ट है और यावत् पक्ष मे साध्यानुमिति के प्रति यावत् पक्ष मे साध्य की सिद्धि ही प्रतिबन्धक होती है न कि यत्किञ्चित् पक्ष मे साध्य की सिद्धि ।

उक्तानुमान मे यह भी शका हो सकती है कि-'पक्षतावच्छेदक और हेतु एक है इस लिये हेतु मे साध्य का व्याप्तिज्ञान साध्यसिद्धि रूप हो जायगा क्योकि साध्य की व्याप्ति साध्यसामानाधिकरण्य से घटित होती है और पक्षतावच्छेदकात्मक हेतु मे साध्यसामानाधिकरण्य का ज्ञान पक्ष मे साध्यवत्त्व के ज्ञान होने पर ही सभव है अत. हेतु मे साध्य का व्याप्तिज्ञान साध्यसामानाधिकरण्य कुक्षि मे पक्ष मे साध्यप्रकारक होने से साध्यसिद्धि रूप हो जायगा। अत व्याप्तिज्ञान के द्वारा सिद्धसाधन की आपत्ति होगी" ।-किन्तु विचार करने पर यह शका उचित नहीं प्रतीत होती क्योकि साध्यसामा-नाधिकरण्य की कुक्षि मे पक्ष मे साध्य का ज्ञान निर्धमतावच्छेदक होता हैं अर्थात् पक्षतावच्छेदकरूप से पक्ष मे साध्यसम्बन्ध का भान नहीं होता है अत एव व्याप्तिज्ञानात्मक साध्यसिद्धि से पक्षतावच्छेदकाव-च्छिन्न मे साध्यानुमिति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता क्योकि तद्धर्मावच्छिन्न विशेष्यक साध्यानुमिति के प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकसाध्यनिश्चय को ही सिद्धिविधया प्रतिबन्धकत्व न्यायप्राप्त हैं ।

### [ सकर्तृकत्व-कर्तृसाहित्य या कर्तृजन्यत्व ? ]

प्रस्तुत अनुमान मे यह शका होती है कि-"सकर्तृकत्व रूप साध्य का अर्थ यदि कर्तृसाहित्य किया जायगा तो जीवात्मा से सिद्धसाधन हो जायगा, क्योकि कर्त्ता शब्द से जीवात्मा का समान-कालिकत्व या समानदेशत्व ग्रहण करने पर भी कर्त्ता का उक्तस्वरूप कर्तृसाहित्य कार्यमात्र मे उपपन्न हो जाता है। और यदि सकर्तृकत्व का अर्थ कर्तृजन्यत्व माना जायगा तो कार्य के प्रति कर्तृगतज्ञान आदि के ही कारण होने से कर्ता को कार्य का अजनक होने के कारण कर्तृजन्यत्वरूप साध्य की अप्र-सिद्धि हो जायगी। और यदि सकर्तृकत्व का अर्थ जन्यतासम्बन्ध से कर्तृमत्त्व किया जायगा तो कर्त्ता कार्य का अजनक होने के कारण जन्यत्व कर्त्ता का व्यधिकरण सम्बन्ध होगा इसलिए कार्य मे जन्यत्व-सम्बन्ध से कर्त्ता का अभाव होने से बाध हो जायगा। अत प्रस्तुत अनुमान का समर्थन अशक्य है-" किन्तु यह शका अनवकाश है क्योकि प्रत्यक्षजन्यत्व, इच्छाजन्यत्व अथवा कृतिजन्यत्व को साध्य मान लेने पर उक्त दोष का परिहार हो सकता हैं।

कार्यमात्र मे अदृष्ट द्वारा जीवात्मा के प्रत्यक्षजन्यत्व, इच्छाजन्यत्व अथवा कृतिजन्यत्व के द्वारा सिद्धसाधन का या जीवात्मा के प्रत्यक्षादि को कार्य मात्र के प्रति किसी साक्षात् सम्बन्ध

अथात्र शरीरजन्यत्वमुपाधिः, अङ्कुरादौ साध्यव्यापकतासंदेहे संदिग्धोपाधिनासाम्राज्यात्, तदाहितव्यभिचारसंशयेनाऽनुमानप्रतिरोधात्, लाघवाद् व्यभिचारज्ञानत्वेनैव व्याप्तिधीविरोधित्वात्, पक्ष-तत्समयोरपि व्यभिचारसंशयस्य दोषत्वादिति चेत्? न, प्रकृते ज्ञानत्वादिकार्यत्वाभ्यां हेतु-हेतुमद्भावनिश्चयात, लाघवतर्कावतारे तदुपाधिसंशयस्याऽविरोधित्वात्, अनुकूलतर्कानवतार एव संदिग्धोपाधेर्व्यभिचारसंशयाधायकत्वात्, अन्यथा पक्षेतरत्वोपाधिशङ्कया प्रसिद्धानुमानस्याऽप्युच्छेदप्रसङ्गात् इत्येके।

से कारण मानकर सिद्धसाधन अथवा अर्थान्तर की आपत्ति का परिहार करने के लिये अदृष्टाद्वारक-प्रत्यक्षादिजन्यत्व को अथवा विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न प्रत्यक्षादिनिष्ठकारणता निरूपितसमवाय-सम्बन्धावच्छिन्नजन्यत्व को साध्य मानना आवश्यक है।

कहने का आशय यह है कि यदि सामान्यरूप से प्रत्यक्षादिजन्यत्व को साध्य माना जायगा तो जीवात्मा के प्रत्यक्षादि द्वारा सिद्धसाधन होगा, क्योंकि जीवात्मा के अदृष्ट से ही समस्त कार्य की उत्पत्ति होती है। और वह अदृष्ट जीवात्मा के प्रत्यक्ष इच्छा और कृति से होनेवाले विहित निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न होता है। अत कार्यमात्र मे पूर्वसृष्टि मे होनेवाले जीव के प्रत्यक्षादि की अदृष्ट द्वारा जन्यता सिद्ध होने से सिद्धसाधन होगा।

अदृष्टाऽद्वारक प्रत्यक्षादि जन्यत्व को साध्य मानने पर इस दोष का परिहार होने पर भी जीव के पूर्वसृष्टिगत प्रत्यक्षादि को स्वध्वस द्वारा नूतनसृष्ट का कारण मान लेने पर कार्यमात्र मे जीव के अदृष्टाऽद्वारक प्रत्यक्षादिजन्यत्व सिद्ध हो जाने से अर्थान्तर हो सकता है। अत समवायसम्बन्ध से कार्य मात्र के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से कर्तृगत उपादान का प्रत्यक्ष, उपादान मे कार्य की चिकीर्षा और उपादानविषयक कृति कारण होती है। इस कार्यकारणभाव के आधार पर विशेष्यत्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रत्यक्षादिनिष्ठकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्न जन्यत्व को साध्य मानना आवश्यक है। ऐसा मानने पर पूर्वसृष्टिगत जीवात्मा के प्रत्यक्षादि के द्वारा सिद्धसाधन नहीं हो सकता, क्योंकि द्वयणुकादि के उपादानकारण परमाणु आदि का प्रत्यक्ष जीव को पूर्व सृष्टि मे भी नहीं होता और यदि कथञ्चित् अलौकिक प्रत्यासत्ति से परमाणु आदि का प्रत्यक्ष जीव को माना जाय तो वह नवीन सृष्टि मे होनेवाले द्वयणुकादि का विशेष्यतासम्बन्ध से कारण न हो सकेगा क्योंकि विशेष्यता ज्ञानसमान-कालीन होती है। अत नवीन सृष्टि के पहले पूर्वसृष्टि का जीवगतप्रत्यक्ष विशेष्यतासम्बन्ध से द्वयणु-कादि के उपादान कारणो मे नहीं रह सकता, इसलिये जीवात्मा के प्रत्यक्षादि को लेकर कार्यमात्र मे इस परिष्कृत प्रत्यक्षादिजन्यत्वरूप साध्य के सम्भव न होने से जीवात्मा के प्रत्यक्षादिद्वारा सिद्धसाधन या अर्थान्तर नही हो सकता।

## [शरीरजन्यत्व उपाधि शका का समाधान]

इस सन्दर्भ मे यह शका हो सकती है-"कार्यत्व हेतु शरीरजन्यत्व रूप उपाधि से ग्रस्त है क्योंकि सकर्तृकत्वरूपसाध्य घटपटादि जिन कार्यों मे सिद्ध है उन मे शरीरजन्यत्व भी सिद्ध है, अत शरीरजन्यत्व सकर्तृकत्व रूप साध्य का व्यापक है। एव कार्यत्व के आश्रय अङ्कुरादि मे शरीरजन्यत्व का अभाव होने से वह कार्यत्वरूप साधन का अव्यापक भी है। अत उपाधिग्रस्त होने के कारण प्रस्तुत

परे तु- स्वोपादानगोचरा स्वजनकाऽदृष्टाऽजनिका या कृतिस्तदजन्यं समवेतं जन्यं स्वोपादानगोचरस्वजनकादृष्टजनकान्याऽपरोक्षज्ञान-चिकीर्षाजन्यम् , कार्यत्वात् । घटादावंशतः

अनुमान से वादि के अभिमत की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि-'अङ्कुरादि मे सकर्तृकत्व का सन्देह है किन्तु शरीरजन्यत्व का अभाव निश्चित है अत शरीरजन्यत्व मे साध्यसकर्तृकत्व की व्यापकता का निश्चय न हो सकने से शरीरजन्यत्व उपाधि नहीं हो सकता।-' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि निश्चित उपाधि न होने पर भी अङ्कुरादि द्वारा शरीरजन्यत्व मे साध्य व्यापकता का सन्देह होने से सन्दिग्धोपाधि का होना अनिवार्य है। यदि यह शका की जाय-'सन्दिग्धोपाधि होने से भी कोई दोष नही हो सकता क्योंकि सन्दिग्धोपाधि के व्यभिचारसन्देह से हेतु मे साध्यव्यभिचार का सन्देह ही हो सकता है निश्चय नहीं हो सकता। और व्यभिचार सदेह व्याप्तिज्ञान विरोधी न होने से हेतु मे साध्यव्याप्ति का निश्चय हो कर अनुमिति के होने मे कोई बाधा नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि व्याप्ति ज्ञान के प्रति व्यभिचारनिश्चयत्वरूप से व्यभिचारज्ञान को प्रतिबन्धक मानने मे गौरव है। अत लाघव की दृष्टि से व्यभिचारज्ञानत्वरूप से ही व्यभिचारज्ञान व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक है अत एव व्यभिचारसशय से भी व्याप्तिनिश्चय का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण सन्दिग्धोपाधि का भी अनुमानविरोधित्व अपरिहार्य हैं। यद्यपि सन्दिग्धोपाधि के व्यभिचार के सशय से हेतु मे साध्यव्यभिचार का सशय पक्ष मे ही होगा, तो भी कोई हानि नहीं है क्योंकि पक्ष और पक्षसन्देह के द्वारा भी हेतु मे साध्यव्यभिचार का सशय अनुमान मे दोष रूप हो सकता है।

यदि यह शङ्का की जाय "पक्ष मे साध्य का सशय होने के कारण पक्ष द्वारा सर्वत्र ही हेतु मे साध्यव्यभिचार का सन्देह हो सकता है, अत व्यभिचार सशय को अनुमान का दोष मानने पर अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पक्ष मे साध्यनिश्चय की दशा मे हेतु मे साध्यव्यभिचार का सशय न होने से सिषाधयिषा से पक्ष मे साध्यानुमान हो सकता है, क्योंकि अनुमिति मे पक्षताविधया सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव ही कारण होता है। फलत शरीरजन्यत्व रूप उपाधि से ग्रस्त होने से प्रस्तुत अनुमान द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने की आशा करना दुराशा मात्र है।"

-किन्तु विचार करने पर इस अनुमान मे शरीरजन्यत्व को लेकर उपाधिग्रस्तता की शङ्का का औचित्य सिद्ध नही होता। क्योंकि कार्यसामान्य और ज्ञानादिसामान्य मे कार्यत्व और ज्ञानत्व आदि रूप से कार्य कारणभाव निश्चित है, क्योंकि इस कार्य कारण भाव मे लाघव है। और इस लाघव तर्क के कारण उपाधिसशय कार्यत्व मे ज्ञानादिजन्यत्व की व्याप्ति के निश्चय मे बाधक नही हो सकता। सन्दिग्धोपाधि से हेतु मे साध्यव्यभिचार का सशय उसी दशा मे होता है जब हेतु मे साध्यव्याप्तिका निश्चायक कोई अनुकूल तर्क न हो। और यदि अनुकूल तर्क रहने पर भी सन्दिग्धोपाधि से हेतु मे साध्यव्यभिचार का सशय होगा तो पक्षेतरत्वरूप उपाधि की शङ्का होने से पर्वत मे वह्नि के प्रसिद्ध अनुमान का भी उच्छेद हो जायगा। इस प्रकार विचार करने से प्रस्तुत अनुमान के प्रयोग मे कोई दोष नहीं है। ऐसा कितनेक विद्वान् कहते हैं।

(सकर्तृकत्व-स्वोपादानगोचरस्वजनकादृष्टाऽजनकप्रत्यक्षादिजन्यत्व)

अन्यविद्वान् 'कार्यं सकर्तृक, कार्यत्वात्' इस अनुमान की व्याख्या इस रूप मे करते हैं कि प्रकृत अनुमान में सपूर्ण कार्य पक्ष नहीं है किन्तु वह कार्य पक्ष है जो समवेत होता है और अपने

सिद्धसाधनवारणाय तदजन्यान्तम्, तादृशकृतिजन्यं यत् यत्स्वं तद्भिन्नत्वं तदर्थः; नातो द्व्यणुकादेरुपादानगोचरतादृशकृत्यप्रसिद्ध्या पक्षत्वाभावप्रसङ्गः । तत्र शब्द-फूत्कारादेरपक्षत्वे संदिग्धसाध्यकत्वेन तत्राऽनैकान्तिकत्वसंशयः स्यात्, अतः प्रतियोगिकोटौ गोचरान्तम्ः शब्दादेर्मृदङ्गादिगोचरतादृशकृतिजन्यत्वेऽपि न स्वोपादानगोचरतादृशकृतिजन्यत्वमिति न

उपादान कारण विषयक ऐसी कृति से अजन्य होता है जो उसके जनक अदृष्ट को उत्पादक नहीं होती । ऐसे कार्य को पक्ष बनाने के लिये स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनककृति अजन्य समवेतजन्यत्व को पक्षतावच्छेदक मानना आवश्यक होता है। और इस प्रकार के धर्म को पक्षतावच्छेदक बनाने पर सकर्तृकत्वरूप साध्य के स्वरूप को भी बदलना होता है। फलत सकर्तृकत्व का अर्थ हो जाता है स्वोपादान-गोचरस्वजनकअदृष्टाऽजनकप्रत्यक्षादिजन्यत्व । इस का आशय यह है कि जो कार्य स्वोपादनगोचर और स्वजनकअदृष्टाऽजनककृति से अजन्य होते हुये समवेत होता है वह स्वोपादानगोचर और स्वजनकअदृष्टाजनक प्रत्यक्ष से जन्य होता है। उक्त मूल अनुमान की इस प्रकार व्याख्या कर देने पर पक्षतावच्छेदक का जो स्वरूप प्रस्तुत होता है उस मे तीन अंश है जैसे स्वोपादानगोचरस्वजनकअदृष्टाजनककृत्यजन्यत्व, समवेतत्व और जन्यत्व ।

इन मे प्रथम अंश का त्याग कर देने पर घटादि कार्य भी पक्षान्तर्गत हो जाता है और उन मे सकर्तृकत्व सिद्ध है इसलिये अंशत सिद्धसाधन अर्थात् पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि रूप बाधक की उपस्थिति मे अनुमितिप्रतिरोध की आपत्ति होती है। इस दोष के परिहार के लिये अजन्यत्व-पर्यन्त अंश का पक्षतावच्छेदक कोटि मे संनिवेश आवश्यक है। इस अंश का संनिवेश करने पर घटादि पक्षान्तर्गत नहीं होता है क्योंकि वे स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनक कुलाल की कृति से जन्य होते हैं। अजन्यत्वान्त अंश मे स्व पद से जन्य को ग्रहण करना अभीष्ट है अजन्य को नहीं। इसलिये अजन्यत्वान्तभाग का अर्थ है स्वोपादानगोचर-स्वजनक अदृष्टाजनक कृति से जन्य जो जो हैं तद् तद् भिन्नत्व। यदि स्व पद से अजन्य का ग्रहण किया जायगा तो द्व्यणुकादि पक्ष न हो सकेगा क्योंकि द्व्यणुकादि के उपादान को विषय करनेवाली द्व्यणुकादिजनकअदृष्ट की अजनक कोई कृति प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये स्वपद से द्व्यणुकादि का ग्रहण न हो सकने से वह स्वोपादान गोचर स्वजनक अदृष्टाजनक कृत्यजन्यशब्द से पक्षविधया उपन्यस्त नहीं हो सकता है। फलत उस के कर्ता रूप मे ईश्वर की सिद्धि असंभव हो जायेगी।

## ('उपादान गोचर' पदकी सार्थकता)

इस अंश मे भी कृति मे यदि स्वोपादानगोचर विशेषण न देकर स्व-जनक अदृष्टाजनक कृतिजन्य भिन्नत्व मात्र को ही पक्षतावच्छेदक की कोटि मे निवेश किया जायगा तो मृदङ्गादि को बजाने से उत्पन्न होने वाला शब्द और वायु का फुत्कार पक्षान्तर्गत न हो सकेगा। क्योंकि मृदङ्गादि बजाने से उत्पन्न होनेवाला शब्द स्वजनक अदृष्ट के अजनक मृदङ्गादिगोचर मृदङ्गादिवादक कृति से जन्य होने के कारण तादृशकृतिजन्य भिन्न नहीं होगा। क्योंकि फुत्कार भी फुत्कार के निमित्तभूत यन्त्र विषयक कृति से जन्य है जो कृति फूत्कारजनक अदृष्ट का अजनक है इसलिये वह भी स्वजनक अदृष्टाजनककृतिजन्य भिन्न नहीं है । जब शब्द और फुत्कार पक्ष से बहिर्भूत हो जायेंगे तो उन मे साध्य का सन्देह होने से हेतु मे साध्यव्यभिचार का सन्देह हो जायगा। किन्तु कृति मे स्वोपादानगोचरत्व का निवेश कर देने पर शब्द और फुत्कार को पक्षान्तर्गत होने में कोई बाधा

दोषः । मन्त्रविशेषपाठपूर्वकस्पर्शजन्यकांश्यादिगमनस्य स्पर्शजन्याऽदृष्टद्वारा स्वोपादनकाश्यगोचरस्पर्शजनकजन्यकृतिजन्यस्याऽपत्त्वे तत्र संदिग्धानैकान्तिकत्वं स्यात्, एवं स्वोपादानशरीरगोचरोर्ध्वचरणादितपःकृतिजन्यकालशरीरीयगौररूपादौ तत् स्यात्; अतस्तत्कोटौ 'स्वजनक०' इत्यादि, कांश्यचालनादिकं तु स्वजनकाऽदृष्टजनकजन्यकृतिजन्यमेवेत्यदोषः । ध्वंस-गगनैकत्वादिवारणाय 'समवेतम्' इति, 'जन्यमि'ति च । शब्द-फूत्कारादौ सिद्धसाधनवारणाय साध्ये गोचरान्तम् । उक्तकांश्यचालनादौ तद्वारणाय 'स्वजनक०' इत्यादि ।

नहीं होगी, क्योंकि उन के जनक अदृष्ट-अजनिका मृदङ्गादिगोचर कृति उन के उपादान आकाश और वायु को विषय नहीं करती । अत वे स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनक कृति जन्य भिन्न हो जाते हैं।

## [स्वजनकादृष्टाजनक-पद की सार्थकता]

इसी प्रकार यदि कृति मे स्वजनक अदृष्टाजनकत्व का सनिवेश न कर स्वोपादानगोचर कृति जन्यभिन्नत्व मात्र को पक्षतावच्छेदक का घटक माना जायगा तो काश्य पात्र की वह गति जो मन्त्र-विशेष के पाठ के साथ होनेवाले स्पर्श से उत्पन्न होती है-पक्षान्तगत न हो सकेगी। क्योकि वह भी अपने उपादानभूत काश्यपात्र को विषय करने वाली स्पर्श जनक कृति से जन्य है। अत वह स्वोपादान गोचर-कृतिजन्यभिन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार कृष्णवर्ण के शरीर मे उत्पन्न होनेवाला वह गौर रूप भी पक्षान्तर्गत न हो सकेगा जो अधोमुख और ऊर्ध्व पाद की अवस्था मे शरीरस्थापनरूप तपश्चर्या की कृति से उत्पन्न होता है, क्योकि वह भी अपने उपादान कारण शरीर को विषय करने वाली ऊर्ध्व मुख अध पादादि-तप की कृति से जन्य होने के कारण स्वोपादान गोचर कृति जन्य भिन्न नही होता है। फलत. काश्य पात्र की उक्त गति और कृष्णशरीर के उक्त गौर रूप के द्वारा हेतु मे साध्य व्यभिचार का सन्देह होने से अनुमिति का प्रतिरोध हो जायगा और कृति मे जब स्वजनक अदृष्टाजनकत्व का निवेश करते हैं तब यह दोष नहीं हो सकता, क्योकि काश्यपात्र की गति काश्यपात्रगोचर स्पर्शजनक कृति से अदृष्ट द्वारा उत्पन्न होती है। और कृष्णशरीर गत उक्त गौर रूप भी स्वोपादानगोचर अधोमुख उर्ध्वपादादि रूप तप की कृति से अदृष्ट द्वारा ही उत्पन्न होता है। अत एव उक्त गति और उक्त रूप स्वोपादानगोचर स्वजनक अदृष्ट जनक कृति से ही जन्य होने के कारण स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनककृतिजन्य भिन्न होने से पक्षान्तर्गत हो जाते हैं।

## (समवेतत्व और जन्यत्व का उचित निवेश)

दूसरा अश है 'समवेतत्व'। इस अश का पक्षतावच्छेदक कोटि मे सनिवेश न करने पर ध्वस भी पक्षान्तर्गत हो जाता है। और उसमे साध्य का बाध होने से पक्षतावच्छेदकाऽवच्छेदेन अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाता है। अत समवेतत्व अश का पक्षतावच्छेदक कोटि मे प्रवेश आवश्यक है।

तीसरा अश है 'जन्यत्व'-इस अश का भी पक्षतावच्छेदक कोटि मे सनिवेश आवश्यक है। अन्यथा आकाशगत एकत्व-परिमाणादि नित्य गुण भी पक्षान्तर्गत हो जायेंगे और उन मे साध्य का बाध होने से पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति का प्रतिरोध हो जायगा।

न च साध्ये पक्षे च गोचरान्तद्वयं माऽस्तु, मृदङ्गादिगोचरकृतिजन्यशब्दादिस्तु पक्षबहिर्भूत एव दृष्टान्तोऽस्त्विति वाच्यम्, अदृष्टेतरव्यापारद्वाराऽस्मदादिकृतिजन्यत्वसिद्ध्याऽर्थान्तरप्रसङ्गवारणाय साध्ये तन्निवेशावश्यकत्वे, शब्दादावनैकान्तिकत्वसंशयवारणाय पक्षेऽपि तदावश्यकत्वात्, तादृशशब्दादिकर्तृ तयापि भगवत्सिद्धये पक्षे तन्निवेशेऽशंतः सिद्धसाधनवारणाय साध्ये तन्निवेशावश्यकत्वाच्च । एतेन 'स्वजनकाऽदृष्टजनकान्यत्वमप्युभयत्र माऽस्तु' इत्यपास्तम्, तादृशकांस्यचालनादिकर्तृतयाऽपि भगवत्सिद्ध्यर्थं पक्षे तदुपादाने साध्येऽप्यावश्यकत्वात् । यदि च 'स्वजनकादृष्टजनककृतेर्न स्वजनकत्वम्, मानाभावात्' इति विभाव्यते, तदा पक्षे तद् नोपादेयम्; साध्ये तु देयमेव, अन्यथा सर्गान्तरीयज्ञानादीनां द्व्यणुकाद्युपादानाऽगोचरत्वेन द्व्यणुकादौ सिद्धसाधनाभावेऽप्युक्तकांस्यचालनादावदृष्टजनककृतिजन्यत्वसिद्ध्याऽर्थान्तरापत्तेर्वस्तुगत्या स्वोपादानगोचरकृतिजन्य यत् तत्त्वावच्छिन्नभेदकूटवत्त्वेन कांस्यचालनादेरपि पक्षान्तर्गतत्वात्' इत्याहुः ।

(कृति में स्वोपादानगोचरत्व का उचित निवेश)

सकर्तृकत्वरूप साध्य को स्वोपादानगोचर स्वजनकअदृष्टाजनक प्रत्यक्षादि जन्यत्व रूप मे प्रस्तुत किया गया है। यदि साध्य के इस प्रस्तुत रूप मे कृति मे स्वोपादानगोचरत्व का सनिवेश न किया जायगा तो मृदङ्गवादनजन्य शब्द और वायुगत फुत्कारादि मे स्वजनक अदृष्ट का अजनक मृदङ्गादि गोचर प्रत्यक्षादिजन्यत्वके सिद्ध होने से अशत सिद्धसाधन होगा। अत उस के वारण के लिये साध्य के शरीर मे कृति अश मे स्वोपादान गोचरत्व का निवेश आवश्यक है । इसी प्रकार मन्त्रविशेष पाठपूर्वक स्पश से उत्पन्न होनेवाली कांस्यपात्र की गति मे स्व के उपादान कांस्यपात्र को विषय करनेवाली स्पर्शजनक कृति का जन्यत्व रहने से और अधोमुख ऊर्ध्वचरणादि रूप तप की कृति से उत्पन्न होनेवाले कृष्णशरीरगत गौररूप मे स्वोपादान शरीर गोचर कृति जन्यत्व रहने से अशत सिद्धसाधन होगा। अत इस दोष के निवारणार्थ साध्य के शरीर मे कृति अश मे स्वजनक-अदृष्टाजनकत्व का निवेश आवश्यक है। इस निवेश से उक्त अशत सिद्ध साधन दोष का परिहार हो जाता है, क्योंकि कांस्यपात्र की गति को उत्पन्न करनेवाली कांस्यविषयिणी स्पशर्जनिका कृति उस गति के जनक अदृष्ट का जनक होती है-अजनक नहीं होती है । और कृष्ण शरीर मे गौररूप उत्पन्न करनेवाले अधोमुख उर्ध्वचरणादिरूप तप की कृति भी उक्त रूप के जनक अदृष्ट का जनक ही होती है अजनक नहीं होती है। अत' कांस्य की उक्त गति और कृष्णशरीरगत उक्त गौररूप में स्वोपादानगोचरस्वजनकअदृष्टाजनक कृत्यादि जन्यत्व सिद्ध न होने से अशत सिद्धसाधन नहीं हो सकता है।

इस सदर्भ मे यह प्रश्न हो सकता है कि-"साध्य और पक्ष दोनो ही के शरीर मे स्वोपादान-गोचरत्व का निवेश न किया जाय और उस निवेश के अभाव मे मृदङ्गादिगोचर कृति से उत्पन्न होनेवाले शब्दादि को पक्ष से बाह्य दृष्टान्त माना जाया, अत उस के द्वारा हेतु मे साध्य के व्यभिचार की शका कैसे हो सकती है" ?-किन्तु इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहना पर्याप्त है कि

अन्ये तु द्रव्याणि ज्ञाने-च्छा-कृतिमन्ति, कार्यवत्त्वात् , कपालवत् । साध्यता विशेष्यतया, हेतुता च समवायेन, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाद् नांशतः

पक्ष मे अदृष्ट से भिन्न किसी व्यापार के द्वारा अस्मदादि की कृतिजन्यता मान लेने पर अर्थान्तर की प्रसक्ति होगी। अत. उस के वारण के लिये साध्य के शरीर मे स्वोपादानगोचरत्व का निवेश आवश्यक होगा। अस्मदादि की कृति द्व्यणुक के उपादान को विषय नही करती इसलिये अर्थान्तर की आपत्ति नही हो सकती। इस प्रकार साध्य मे स्वोपादानगोचरत्व का सनिवेश आवश्यक हो जाने पर पक्ष मे भी उस का निवेश करना आवश्यक होगा। अन्यथा मृदङ्गादिवादन से होने वाले शब्द के द्वारा हेतु मे शब्द व्यभिचार की शका की आपत्ति होगी। क्योकि पक्ष मे स्वोपादानगोचरत्व का निवेश न होने पर उक्त शब्द पक्ष बहिर्भूत हो जाता है और उस मे स्वोपादानगोचर स्वजनक अदृष्टाजनक कृतिजन्यत्वरूप साध्य का सन्देह होता है।

इस के अतिरिक्त दूसरी वात यह है कि यदि मृदङ्गादि से उत्पन्न होनेवाले शब्दादि के कर्त्तारूप मे भी परमेश्वर की सिद्धि करनी हो तो उसे पक्षान्तर्गत बनाने के लिये पक्ष मे स्वोपादान-गोचरत्व का निवेश करना होगा, और उस स्थिति मे उसमे स्वोपादान गोचरत्व से अघटित साध्य के सिद्ध होने से अशत सिद्धसाधन की आपत्ति होगी, अत उस के वारणाथ साध्य मे भी स्वोपादानगो-चरत्व का निवेश आवश्यक होगा।

इस प्रसग से यह सुझाव कि-'स्वजनक अदृष्टाजनकत्व का सनिवेश साध्य और पक्ष दोनो मे न किया जाय'-उचित नहीं है। क्योकि काश्यपात्र की उक्त गति और कृष्ण शरीर से उत्पन्न होनेवाले उक्त गौर रूप के कर्त्तारूप मे भी ईश्वर की सिद्धि करने के लिये पक्ष मे कृत्यश मे स्वजनक-अदृष्टाजनकत्व का निवेश करना होगा और उस स्थिति मे साध्य मे भी उस अश के निवेश की आवश्यकता अपरिहार्य होगी। अन्यथा उक्त गति और उक्त रूप मे अशत सिद्धसाधन की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि-'स्वजनक अदृष्ट को उत्पन्न करनेवाली कृति स्व का जनक नहीं हो सकती है क्योकि उसे स्व का कारण मानने मे कोई प्रमाण नहीं है। उस दशा मे पक्ष मे स्वजनक अदृष्टाजनकत्व के निवेश की आवश्यकता न होगी। किन्तु शब्द मे उस का निवेश करना ही होगा। क्योकि शब्द मे उसका निवेश न करने पर पूर्व सर्ग के अस्मदादिके ज्ञानजन्यत्व को लेकर द्व्यणुकादि मे सिद्धसाधन नहीं हो सकता क्योकि पूर्व सर्गका अस्मदादि का ज्ञान भी द्व्यणुकादि के उपादान को विषय नहीं करता"-तव भी उक्त काश्यपात्र की गति मे और कृष्णशरीरगत गौर रूप मे अर्थान्तरकी आपत्ति हो सकती है यदि उन्हें स्वजनक अदृष्ट को उत्पन्न करनेवाली कृति से जन्य मान लिया जाय, क्योकि स्वोपादानगोचर कृतिजन्य जो जो वस्तु हैं वे सभी वस्तुओ का भेदकुट उक्त गति और उक्त रूप मे विद्यमान है। अत उक्त गति और उक्त रूप भी पक्षान्तर्गत हो जाते हैं।-यह भी अन्य विद्वानो का मत है।

## [द्रव्यपक्षक कार्यवत्ताहेतुक अनुमान]

अन्य विद्वान कार्य मे सकर्तृकत्व साधक अनुमान का इस रूप मे प्रयोग करते हैं कि-'द्रव्य ज्ञानेच्छाकृतिमान् होते हैं क्योकि वे कार्यवान् होते है जैसे कपाल।" इस अनुमान मे द्रव्य पक्ष है और

सिद्धसाधनम् । न च बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वमुपाधिः, अनुकूलतर्केण हेतोर्व्याप्यतानिर्णये तदनवकाशात् । न च त्रितयस्य मिलितस्य साध्यत्वेऽप्रयोजकत्वम्, मिलितत्वेनाऽहेतुत्वात्, प्रत्येकं साध्यत्वे ज्ञाने-च्छावत्त्वेन साधने सर्गान्तरीयज्ञानादिना सिद्धसाधनमिति वाच्यम्, मिलितत्वेन साध्यत्वेऽपि कार्यकारणभावत्रयस्य प्रयोजकत्वात् । 'सर्गाद्यकालीनं द्रव्यं ज्ञानवत्' कार्यत्वात्, पक्षतावच्छेदककालावच्छेदेन साध्यसिद्धेः—इत्यप्याहुः ।

ज्ञान इच्छा और कृति विशेष्यता सम्बन्ध से साध्य है और कार्य समवाय सम्बन्ध से हेतु है । स्पष्ट है कि समवाय सम्बन्ध कोई भी कार्य द्रव्य मे ही होता है । और जो कार्य जिस द्रव्य मे होता है उस द्रव्य मे उस कार्य के उपादान भूत द्रव्य का ज्ञान और उस के उपादान भूत द्रव्य मे उस कार्य की चिकीर्षा और उस कार्य के उपादानभूत द्रव्य को विषय करनेवाली उस कार्य की विधायिका कृति विशेष्यता सम्बन्ध से रहती हे । इस अनुमान मे अशत सिद्धसाधन की प्रसक्ति प्रतीत होती है क्योकि पक्ष के अन्तर्गत आनेवाले कपालादि द्रव्यो मे घट के उत्पादक ज्ञान इच्छा और प्रयत्न विशेष्यता सम्बन्ध से सिद्ध है । किन्तु यह अशत सिद्ध साधन इस अनुमान को दूषित नही कर सकता, क्योकि उस मे पक्षतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वावच्छेदेन साध्य की सिद्धि उद्देश्य है । इसलिये पक्षतावच्छेदक से आक्रान्त होने वाले द्रव्यो मे परमाणु और द्वचणुक भी आते हैं और उन मे क्रम से द्वचणुक और त्र्यणुक के उत्पादक ज्ञानेच्छाकृति विशेष्यता सम्बन्ध से सिद्ध नहीं है, क्योकि परमाणु और द्वचणुक अस्मदादि के ज्ञान इच्छा प्रयत्न के विषय नहीं होते है । अत उन मे विशेष्यता सम्बन्ध से ज्ञानेच्छाकृति की सिद्धि ईश्वर के ज्ञानादि द्वारा ही हो सकती है ।

इस अनुमान मे बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व को उपाधित्व सभावित है, क्योकि ज्ञानेच्छाकृतिरूप साध्य विशेष्यतासम्बन्ध से जिन कपालादि द्रव्यो मे सिद्ध हे उन मे बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व है । इसलिये वह साध्य का व्यापक है । और कार्यरूप साधन समवाय सम्बन्ध से परमाणु और द्वचणुकादि मे भी है किन्तु उस मे बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व नहीं है इसलिये वह साधन का अव्यापक भी है । किन्तु इस उपाधि से प्रस्तुत अनुमान का विरोध नही हो सकता क्योकि कार्य को यदि ज्ञानेच्छाकृति का व्यभिचारी माना जायगा तो कार्य के प्रति ज्ञानादि की सर्वसम्मत कारणता का लोप हो जायगा । इस अनुकूल तर्क से कार्यात्मक हेतु मे ज्ञानेच्छाकृति रूप साध्य की व्याप्ति का निर्णय उक्त उपाधि के द्वारा अवरुद्ध नहीं हो सकता क्योकि अनुकुल तर्क के अभाव मे ही उपाधि-व्यभिचार से हेतु मे साध्य-व्यभिचार की अनुमिति होने से हेतु मे साध्य व्याप्ति के निर्णय का प्रतिरोध हो कर अनुमिति का अवरोध होता है जो प्रस्तुत अनुमान मे कार्यसामान्य के प्रति ज्ञानेच्छाकृति के सर्वसम्मत कारणता रूप अनुकूलतर्क के नाते सभव नहीं है ।

### (मीलित या पृथक् ज्ञानादि की साध्यता पर आक्षेप)

इस अनुमान मे यह शका हो सकती है कि-"ज्ञानेच्छाकृति इन तीनो को मीलितरूप मे साध्य माना जायगा तो अप्रयोजक व दोष होगा अर्थात् कार्यात्मक हेतु तीनो को मीलित रूप मे सिद्ध न कर सकेगा क्योकि कार्य के प्रति ज्ञानेच्छाकृति को मीलितरूपसे कारणता न मानकर पृथक् पृथक् ही कारणता मानी जाती है । और यदि ज्ञानेच्छाकृति को अलग अलग साध्य माना जाय तो द्रव्य मे विशेष्यता

'क्षित्यादिकं सकर्तृकं, कार्यत्वात्' इत्येवाऽनुमानम्, प्रकृतविचारानुकूलविवाद-विषयत्वेन च क्षित्यादीनामनुगमः, सकर्तृकत्वं च प्रतिनियतकर्तृनिरूपितः संबन्धो व्यवहार-साक्षिको घटादिदृष्टान्तदृष्टो नित्यवर्गव्यावृत्त इति नानुपपत्तिः-इत्यपि केचित् ।

सम्बन्ध से ज्ञान और इच्छा का साधन करने पर पूर्व सर्ग के योगिज्ञान और इच्छा को लेकर सिद्ध-साधन हो जायगा। क्योंकि पूर्व सर्ग मे सामान्य मनुष्यो को परमाणु और द्व्यणुक का प्रत्यक्षज्ञान और उन मे द्व्यणुक और त्र्यणुक रूप कार्य की चिकीर्षा न होने पर भी योगी को परमाणु और द्व्यणुक का ज्ञान और उन मे द्व्यणुक और त्र्यणुकरूप कार्य की चिकीर्षा योगबल से अवश्य हो सकती हैं। इस प्रकार पूर्व सर्ग के योगीज्ञान और योगी की इच्छा को लेकर सिद्धसाधन की प्रसिद्धि होगी।–" किन्तु विचार करने पर यह शका उचित नहीं प्रतीत होती है क्योंकि ज्ञानेच्छाकृति को मिलितरूप से साध्य मानने पर भी अप्रयोजकत्व दोष नही हो सकता, क्योंकि ज्ञानेच्छाकृति तीनो मे मीलित रूप से कार्य के प्रति एक कारणता न होने पर भी उन तीनो मे कार्य की जो पृथक् पृथक् तीन कारणताएँ हैं यह ही प्रयोजक हो जायगी। क्योंकि कार्य यदि मीलित तीनो का व्यभिचारी होगा तो भी उक्त तीनो कारणताओ के लोप की आपत्ति होगी।

कुछ विद्वान उक्त आपत्ति के भय से प्रकृत अनुमान का अन्य रूप मे प्रयोग करते है। जैसे सृष्टि के आरभ काल मे स्थित द्रव्य विशेष्यता सम्बन्धसे ज्ञानवान् है, क्योंकि उस मे समवायसम्बन्ध से कार्य होता है।' इस प्रकार के अनुमान मे पूर्वसर्ग के योगीज्ञान के द्वारा सिद्धसाधन की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस अनुमान मे सृष्टि का आरभकाल पक्षतावच्छेदक है और तत्कालावच्छेदेन ज्ञान की सिद्धि उद्देश्य हे। पूर्व सर्ग का ज्ञान परमाणु आदि द्रव्यो मे सृष्टिके आरम्भकालावच्छेदेन नहीं रह सकता क्योंकि सष्टि के आरभकाल मे पूर्वसर्ग का ज्ञान विद्यमान नहीं होता।

## [क्षित्यादि-पक्षक अनुमान]

कतिपय विद्वान 'कार्यं सकर्तृक कार्यत्वात्-इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग न कर 'क्षित्यादिक सकर्तृक कार्यत्वात्' इसी प्रकार के अनुमान का प्रयोग करते हे। उनके अनुसार-क्षित्यङ्कुरादि अनेक कार्यो का अनुगम, प्रकृत विचार का प्रयोजक जो विवाद, उस विवाद के विषयत्वरूप से हो जाता है। अत क्षिति आदि तादृशविवादविषयत्वरूप एक अनुगत धर्म के द्वारा पक्ष बन जाते हैं। इसलिये क्षितित्व अङ्कुरत्वादि धर्मोके अननुगत होने पर भी उन सभी को पक्ष होने मे कोई बाधा नही होती। उन विद्वानोके अनुसार सकर्तृकत्वरूप साध्य भी कर्तृजन्यत्व' या कृतिजन्यत्व रूप न होकर कर्तृनिरूपित सम्बन्धरूप होता है जो कि 'अमुक कार्य अमुककर्तृमान है' इस व्यवहार से सिद्ध है, और नित्य पदार्थो मे नहीं रहता क्योंकि नित्यपदार्थो मे 'कर्तृमान' इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता। कर्ता का यह सम्बन्ध घट आदि दृष्टान्त मे सिद्ध है, क्योंकि 'घट कर्तृमान-घट कर्तृमान' इस प्रकार का व्यवहार सर्वमान्य है। इस प्रकार 'क्षित्यादिक सकर्तृक' इस अनुमान से क्षिति अङ्कुरादि कार्यो मे कर्ता का नियत सम्बन्ध सिद्ध होता है। और वह सम्बन्ध अस्मदादि को कर्ता मानकर नही उत्पन्न हो सकता। क्योंकि 'क्षित्यादिक अस्मदादिकर्तृक' यह व्यवहार नहीं होता। अत' उक्त अनुमान द्वारा क्षित्यादि मे कर्तृसम्बन्ध की उत्पत्ति ईश्वरद्वारा ही की जा सकती है। फलत उक्त अनुमान द्वारा क्षित्यादि के कर्ता रूप मे ईश्वर की सिद्धि निर्विवाद है।

त्तिप्रसङ्गात्। 'चेष्टात्वमुपाधि'रिति चेत्? किं तत्? 'प्रयत्नजन्यक्रियात्वमि'ति चेत्? न तत्रैव तस्यैवाऽनुपाधित्वात्। 'हिता-ऽहितप्राप्ति-परिहारफलत्वमि'ति चेत्? न, विषभक्षणा-ऽहिलङ्घनाद्यव्यापनात्। 'शरीरसमवायिक्रियात्वं तदि'ति चेत्? न, मृतशरीरक्रियाया अतथात्वात्। 'जीवत' इति चेत्? न, नेत्रस्पन्दादेरतथात्वात्। 'स्पर्शवद्द्रव्यान्तराऽप्रेरणे सति शरीरक्रियात्वं तत्, शरीरपदोपादानाद् न ज्वलन-पवनादिक्रियाऽतिव्याप्तिरि'ति चेत्? न, शरीरत्वस्य चेष्टाघटितत्वात्। 'चेष्टात्वं=सामान्यविशेषो, यत उन्नीयते प्रयत्नपूर्विकेयं क्रिये'ति चेत्? न, क्रियामात्रेण तदुन्नयनात्।

परमाणुद्वय के सयोग के लिये अपेक्षित है वह सयोग सीधे अदृष्ट से ही उत्पन्न हो जायगा। बीच मे कर्म की कोई आवश्यकता न रह जायगी। अत उक्त परमाणु कर्म को सीधे अदृष्ट से जन्य न मानकर प्रयत्न से जन्य मानना आवश्यक हैं।

( चेष्टात्व उपाधि की आशंका )

इस सदर्भ मे यह शका हो सकती है कि-'प्रकृत अनुमान चेष्टात्वरूप उपाधि से ग्रस्त है क्योकि चेष्टात्व कर्मत्वरूप साधन से विशिष्ट प्रयत्नजन्यत्व साध्य का व्यापक है क्योकि प्रयत्नजन्य सभी कर्मों मे चेष्टात्व रहता है, और साधन का अव्यापक है क्योकि कर्मत्वरूप साधन घटादिगत कर्म मे भी रहता है और चेष्टात्व उसमे नहीं रहता। अत चेष्टात्व साधनावच्छिन्नसाध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होने से उपाधि है-'। किन्तु चेष्टात्व का निर्वचन न होने के कारण चेष्टात्व को उपाधि कहना ठीक नहीं है। जसे चेष्टा का अर्थ यदि प्रयत्नजन्यक्रिया किया जायगा तो साध्य और उपाधि एक ही हो जायगा। क्योकि सृष्टि के आरम्भकाल मे उत्पन्न होनेवाले द्वयणुक के उत्पादक परमाणुद्वय सयोग के जनक परमाणु कर्म को प्रयत्नजन्य मानने पर फलत प्रयत्नजन्यक्रियात्व ही साध्य होता है और वही चेष्टात्व है। इसलिए चेष्टात्व अपने ही प्रति उपाधि नहीं हो सकता। साध्य साधन का व्यापक होता है अत साध्य से अभिन्न होने के कारण चेष्टात्व भी साधन का व्यापक ही होगा। जब कि उपाधि होने के लिये साधन का अव्यापक होना आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि-'हित की प्राप्ति और अहित के परिहार की उत्पादक क्रिया चेष्टा है। अत साध्य और चेष्टात्व मे भेद हो जाने से चेष्टात्व के उपाधि होने मे कोई बाधा नहीं हो सकती।'-तो यह ठीक नहीं है, क्योकि विषभक्षण रूप क्रिया और सर्पलघन रूप क्रिया भी चेष्टा है। किन्तु चेष्टा का उक्त प्रकार से निर्वचन करने पर विषभक्षण और सर्पलङ्घन रूप क्रियाएँ चेष्टा न हो सकेगी, क्योंकि विषभक्षण आदि क्रियाएँ मृत्यु का जनक होने से अहित परिहार की जनक नहीं है। 'शरीर मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाली क्रिया का नाम चेष्टा है-' इस प्रकार भी चेष्टा का निर्वचन उचित नही हो सकता क्योकि मृत शरीर मे किसी स्पर्शवान् वेगवान द्रव्य के सयोग से उत्पन्न होने वाली क्रिया भी चेष्टा के उक्त निर्वचन की परिधि मे आ जाने से वह भी चेष्टा शब्द से व्यवहृत होने लगेगी। 'जीवित शरीर मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाली क्रिया चेष्टा है'-इस रूप मे भी चेष्टा का निर्वचन नहीं हो सकता क्योकि नेत्र का स्पन्दन और वातव्याधि से हस्तपादादि मे होने वाला कम्पन भी शरीरसमवेत क्रियारूप होने से चेष्टा हो जायगी।

धृतेरपि । 'ब्रह्माण्डादिपतनाभावः पतनप्रतिबन्धकप्रयुक्तः, धृतित्वात्, उत्पतत्पतत्रिपतनाभाववत्, तत्पतत्रिसंयुक्ततृणादिधृतिवद् वा' । एतेनेन्द्राऽग्नि-यमादिलोकपालप्रतिपादका आगमा अपि व्याख्याताः, तेषां तदधिष्ठानदेशानामीश्वरावेशेनैव पतनाभाववत्त्वात् । तथा च श्रुतिः "एतस्य चाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः" इति । प्रशासनं दण्डभूतः प्रयत्नः, आवेशस्तच्छरीरावच्छिन्नप्रयत्नवत्त्वमेव, सर्वावेशनिबन्धन एव च सर्वतादात्म्यव्यवहार इति, "आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादिकम् ।

---

यदि यह कहा जाय कि-स्पर्शवान् अन्य द्रव्य के सयोग के बिना उत्पन्न होने वाली शरीर की क्रिया चेष्टा है-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस निर्वचन मे शरीर पद का ग्रहण होने से यद्यपि ज्वलन और पवन आदि की क्रिया मे चेष्टात्व का वारण हो जाता है क्योंकि वह क्रिया स्पर्शवान् अन्य द्रव्य के सयोग से अनुत्पन्न होने पर भी शरीर समवेत नहीं होती क्योंकि ज्वलन और पवन किसी का शरीर नहीं है, तथापि चेष्टा के इस निर्वचन में शरीर का शरीरत्वेन निवेश है और शरीरत्व चेष्टाश्रयत्वरूप है। इसलिये चेष्टा के लक्षण मे चेष्टा का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय दोष लगेगा। यदि यह कहा जाय कि-'चेष्टात्व एक सामान्यविशेष=परम्परा जाति है, जिससे 'इस क्रिया प्रयत्नपूर्विका यह क्रिया प्रयत्नजन्य है क्योंकि चेष्टारूप है' यह अनुमान होता है'। -तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्रिया में प्रयत्नपूर्वकत्व का अनुमान क्रिया के सामान्य रूप क्रियात्व मे भी हो सकता है। अत क्रिया मे प्रयत्नपूर्वकत्व की अनुमापकता के अवच्छेदकरूप से भी चेष्टात्व की सिद्धि मानकर सामान्य विशेष रूप मे चेष्टात्व का निर्वचन नहीं हो सकता। आशय यह है कि ईश्वरवादी के मत मे सभी क्रिया मे ईश्वरप्रयत्नपूर्वकत्व होने से क्रियात्व भी प्रयत्नपूर्वकत्व का व्याप्य हो सकता है। इसलिये क्रियात्व मे ही प्रयत्नपूर्वकत्व का अनुमान हो सकने के कारण प्रयत्नपूर्वकत्व के अनुमापकतावच्छेदक रूप मे चेष्टात्व को मान्यता नहीं प्रदान की जा सकती।

### (ब्रह्माण्डधृति-पतनाभावपक्षक अनुमान)

धृतेरपि=धृति से भी ईश्वर का अनुमान होता है। धृति का अर्थ है पतन का अभाव। उस से होनेवाले अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है जैसे-ब्रह्माण्ड आदि गुरुद्रव्यों के पतन का अभाव पतन के किसी प्रतिबन्धक से प्रयुक्त है क्योंकि वह गुरु द्रव्यों के पतन का अभाव रूप है। गुरुद्रव्यों का जो पतनाभाव होता है वह पतन के किसी प्रतिबन्धक से प्रयुक्त होता है जैसे उडते हुए पक्षी के पतन का अभाव उस पक्षी के प्रयत्नरूप प्रतिबन्धक से प्रयुक्त होता है। एवं उडते हुए पक्षी से पकडे हुए तृणादि के पतन का अभाव तृण के साथ उस पक्षी के सयोगरूप प्रतिबन्धक से प्रयुक्त है। आशय यह है कि जिस द्रव्य मे गुरुत्व होता है उस का पतन अर्थात् नीचे की ओर गमन अवश्य होता है, यदि स्थान-विशेष मे उस को रोक रखनेवाला कोई पदार्थ न हो। इस रोकनेवाले पदार्थ को ही पतन का प्रतिबन्धक कहा जाता है जैसे वृक्ष की शाखा मे लगे हुए फलो का गुरुत्व होने पर भी पतन नहीं होता क्योंकि शाखाके साथ फल का सयोग फलको रोक रखता है। वह उस मे पतनक्रिया उत्पन्न नहीं होने देता है। इसी प्रकार जब कोई पक्षी आकाश मे उडता हुआ होता है तो उस उडते हुए पक्षी के शरीर मे भी गुरुत्व है। इसलिये उस गुरुत्व के कारण उस का पतन हो जाना चाहिये किन्तु उस का पतन

इसलिये नहीं होता कि पक्षी का शरीर पक्षी की आत्मा मे विद्यमान प्रयत्न से धारित रहता है। अर्थात् पक्षी की आत्मा का प्रयत्न स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध से अथवा अवच्छेदकता सम्बन्ध से पतन का प्रतिबन्धक होता है। इसीप्रकार आकाश मे उडते हुऐ पक्षी द्वारा चोच मे रखे हुए काष्टखण्ड अथवा फल आदि मे भी गुरुत्व है और गुरुत्व के कारण उस का भी पतन हो जाना चाहिये किन्तु उस का पतन इसलिये नहीं होता कि उन के पतन का कोई न कोई प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार ब्रह्माण्डादि द्रव्य भी गुरु है, अत' गुरुत्व के कारण उनका भी अपने स्थान से पतन हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा नही होता अपि तु वे अपने निश्चित स्थान मे अवस्थित रहते हैं। अत उन के पतन का भी विरोधी कोई न कोई होना चाहिये। ब्रह्माण्डादि किसी जीव का शरीर नहीं है इसलिये उडते हुए पक्षी के शरीर के समान उस का धारण सम्भव नही है। किन्तु जैसे उडते हुए पक्षी द्वारा पकडे गये तृणकाष्ट आदि का धारण प्रयत्नशील पक्षी के सयोग से होता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड आदि का भी धारण किसी प्रयत्नशील के संयोग से ही मानना होगा। वह प्रयत्नशील कोई जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव मे प्रयत्न का उदय जीवके शरीर होने पर ही होता है और ब्रह्माण्ड तो जीव के सशरीर होने के पूर्व भी रहता है। अत एव उसे किसी ऐसे ही पुरुष के सयोग से धारित मानना होगा जो पुरुष शरीर के विना भी प्रयत्नवान् हो सके। इस प्रकार जिस के प्रयत्न से ब्रह्माण्ड आदि का पतन नहीं हो पाता वह ईश्वर से अन्य कोई नहीं हो सकता।

### (इन्द्रादि देवताओ से सिद्धसाधनता की आशंका)

आगमो-पुराणादिशास्त्रो मे इन्द्र, अग्नि, यम आदि देवताओ को लोकपाल कहा गया है। अर्थात् उन्हें भिन्न भिन्न लोक का धारक बताया गया है। ईश्वर को ब्रह्माण्डादि का धारक मानने पर यह समस्या ऊठती है कि– जिन लोको का धारक इन्द्रादि देवताओ को बताया गया है उन का धारण भी ईश्वर से ही हो जायगा। फिर उन लोको के धारणार्थ इन्द्रादि देवताओ की कल्पना अनावश्यक है, अथवा इस प्रकार की समस्या हो सकती है कि आगमो के अनुसार इन्द्रादि देवताओ के द्वारा ही सपूर्ण लोक का धारण होने से उनके सामूहिक प्रयत्न से ब्रह्माण्ड का भी धारण हो सकने के कारण ब्रह्माण्ड आदि के धारण के निमित्त ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है।'-किन्तु इन समस्याओ का समाधान अत्यत सरल है। और वह यह है कि इन्द्रादि देवताओ से धारण किये गये लोको का भी धारक ईश्वर ही है। इन्द्रादि मे उन लोको के धारण करने की जो बात कही गई है वह भी उन-देवताओ मे ईश्वर के आवेश पर निर्भर हैं। अभिप्राय यह है कि ईश्वर ही इन्द्रादि शरीर मे अन्विष्ट हो कर समस्त लोको का धारक होता है। यदि ईश्वर का अस्तित्व न हो तो इन्द्रादि भी उन उन लोको के धारण मे उसी प्रकार समर्थ नहीं होता।

वेद भी ईश्वर को ही द्यु लोक पृथ्वीलोक आदि का धारक बताता है। जैसे एतस्य च अक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत।' इस वेद वाक्य मे गार्गी नामक महिला को सम्बोधित कर यह कहा गया है कि कभी भी अपने स्वरूप से च्युत न होनेवाले परमेश्वर के प्रशासन मे ही द्यु लोक और पृथ्वी लोक अपने स्थल से पतित न होते हुए स्थित है। इस मे प्रशासन शब्द का अर्थ धारण करनेवाला प्रयत्न है। इस प्रकार वेद के अनुसार समस्त लोक ईश्वर के प्रयत्न से हि धारित है यह सिद्ध होता है। अभी जो यह बात कही गई कि इन्द्रादि देवता मे ईश्वर का आवेश होने से उन मे लोकधारकत्व माना जाता है। उस मे आवेश का अर्थ इन्द्रादि शरीर के द्वारा प्रयत्नवान्

आदिना नाशादपि, 'ब्रह्माण्डनाशः प्रयत्नजन्यः, नाशत्वात् , पाट्यमानपटनाशवद्' इति ।

कहना सङ्गत नहीं प्रतीत होता किन्तु कथन का यह आशय है कि ईश्वर के प्रयत्न से इन्द्रादि शरीर मे लोकधारक व्यापार का उदय होता है और उस व्यापार से लोक का धारण होता है । उस के अनुसार इन्द्रादि मे ईश्वर का आविष्ट होने का अर्थ है इन्द्रादि के शरीर को अपने प्रयत्न से सक्रिय बनाना ।

ईश्वर का आवेश केवल इन्द्रादि देवताओ मे ही नहीं होता अपितु सपूर्ण पदार्थों मे होता है । इसीलिये ईश्वर मे सपूर्ण पदार्थों के तादात्म्य का अथवा सपूर्ण पदार्थों मे ईश्वर के तादात्म्य का व्यवहार होता है । जैसा कि 'आत्मैवेद सर्वं'-यह सब कुछ आत्मा ही है । 'ब्रह्मैवेद सर्वं'-यह सपूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है इत्यादि शास्त्रवचनो से स्पष्ट है । अभिप्राय यह है कि जैसे शरीर मे आत्म-प्रयत्न से क्रिया का उदय होने के कारण शरीर को आत्मा मे आविष्ट मानकर शरीर और आत्मा मे 'स्थूलोऽह करोमि' इत्यादि सम्बन्ध से तादात्म्यरूप व्यवहार होता है। उसी प्रकार ईश्वर के प्रयत्न से सपूर्ण जगत् मे अवस्थिति रूप क्रिया का उदय होने से सपूर्ण जगत् में ईश्वर का आवेश होता है और उस से 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' इस प्रकार सपूर्ण जगत् मे ईश्वर के तादात्म्य का व्यवहार होता है ।

(ब्रह्माण्डप्रलय से ईश्वर की सिद्धि का अनुमान)

'कार्यायोजनधृत्यादे'-इस पूर्व चर्चित कारिका मे धृति' शब्द के साथ 'आदि' शब्द पठित है । उस आदि शब्द से नाशरूप अर्थ की सूचना होती है । इसलिये इस कारिका से यह भी ज्ञात होता है कि नाश के कर्तारूप मे भी ईश्वर की प्रतीति होती है। जैसे घट पट आदि का नाश तो सामान्य मनुष्यों के प्रयत्न से भी हो जाता है । किन्तु ब्रह्माण्ड जिस मे अनेक विशाल लोक आश्रित हैं उस का नाश भी शास्त्रो मे वर्णित है, वह नाश सामान्य मनुष्य के प्रयत्न से नहीं हो सकता, क्योंकि इतने बडे ब्रह्माण्ड की रचना की विधि जैसे सामान्य मनुष्य को ज्ञात नहीं होती उसी प्रकार उस के नाश की विधि भी सामान्य मनुष्य को ज्ञात नहीं हो सकती इसलिये ब्रह्माण्ड के नाश के लिये प्रयत्नशील होने, का स्वप्न भी वह नहीं देख सकता । अत उस ब्रह्माण्ड का नाश जिस के प्रयत्न से हो सकता है वह ईश्वर से अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता । ब्रह्माण्डनाश द्वारा होने वाले अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है कि'-ब्रह्माण्डनाश प्रयत्न से जन्य है क्योंकि वह नाश है । जो भी नाश होता है वह प्रयत्न से जन्य होता है । जैसे पट के टूकडे करने पर होनेवाला पट का नाश ।' इस अनुमान मे पक्षाऽसिद्धि की शका नहीं की जा सकती क्योंकि ब्रह्माण्ड का नाश शास्त्रो मे वर्णित है । अथवा 'ब्रह्माण्डम् नाशप्रतियोगी, जन्यभावत्वात्'=ब्रह्माण्ड भी नष्ट होता है क्योंकि वह जन्य भाव है, जो भी जन्य भाव होता है वह नष्ट होता है-जैसे घटपटादि' । इस अनुमान से भी ब्रह्माण्ड का नाश सिद्ध है । अत एव पक्षाऽसिद्धि नहीं हो सकती । शंका-' पट समूह के ऊपर जलता हुआ अङ्गारा पड जाने पर पट समूह का नाश हो जाता हैं, समुद्र मे तूफान या भूकप आने पर सहस्रो भवन आदि का नाश हो जाता है । यह नाश किसी प्रयत्न से नहीं होता यह स्पष्ट है। इसलिये इस प्रकार के नाशो मे नाशत्व प्रयतनजन्यत्व का व्यभिचारी हो जाता है । अत. नाशत्व हेतु से ब्रह्माण्ड नाश में प्रयत्न जन्यत्व का अनुमान अशक्य है ।"-इस प्रकार की शका नही की जा सकती क्योंकि ईश्वरवादी ऐसे नाशों को भी ईश्वर प्रयत्न से ही सम्पन्न मानते हैं । अतः ऐसे नाश भी पक्षतुल्य होते है । अत एव उनके द्वारा नाशत्व को प्रयत्नजन्यत्व का व्यभिचारी नहीं कहा जा सकता ।

पदादपि। पद्यते गम्यतेऽनेनेति पदं=व्यवहारः, ततः 'घटादिव्यवहारः स्वतन्त्र-पुरुषप्रयोज्यः, व्यवहारत्वात् आधुनिककल्पितलिप्यादिव्यवहारवत्' इत्यनुमानात्, न च पूर्वपूर्वकुलालादिनैवाऽन्यथासिद्धिः, प्रलयेन तद्विच्छेदात्।

[व्यवहार प्रवर्त्तक रूप मे ईश्वरसिद्धि]

पद से भी ईश्वर का अनुमान होता है। पद शब्द की व्युत्पत्ति है 'पद्यते=गम्यते-ज्ञायते अनेनेति पदम्'। अर्थात् जिस से पदार्थ ज्ञात हो उस का नाम है पद। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पद शब्द का अर्थ है व्यवहार। और व्यवहार का अर्थ है तद् तद् अर्थो मे परम्परा से प्रयुक्त होनेवाला तद् तद् शब्द, जैसे घटरूप अर्थ मे सुदीर्घ परपरा से प्रयुक्त होनेवाला घट शब्द एव पट रूप अर्थ मे सुदीर्घ परपरा से प्रयुक्त होनेवाला पट शब्द आदि। इस व्यवहार के द्वारा जो ईश्वरानुमान अभिमत है उस का प्रयोग इस प्रकार होता है-"घट आदि अर्थो मे प्रयुक्त होनेवाला घट आदि शब्द-रूप व्यवहार किसी स्वतन्त्र पुरुष से प्रवर्तित हुआ है क्योकि वह व्यवहार है। जो भी व्यवहार होता है वह सब किसी स्वतत्र पुरुष से प्रवर्तित होता है। जैसे आधुनिक मनुष्यो द्वारा क-ख आदि वर्णो के लिये कल्पित लिपि"।

आशय यह है कि जैसे क-ख आदि वर्णो के लिये विशेष प्रकार की लिपि का व्यवहार किसी आधुनिक स्वतत्र पुरुष के द्वारा प्रचारित होता है उस प्रकार घट आदि अर्थो मे घट आदि शब्दो का प्रयोगरूप व्यवहार भी किसी स्वतन्त्र पुरुष के द्वारा प्रवर्तित होना चाहिये। और वह पुरुष कोई आधुनिक नहीं हो सकता, क्योकि यह व्यवहार अनादिकाल से चल रहा है। अतः इस अनादिकाल से प्रवृत्त व्यवहार के आरभ मे जो पुरुष रहा हो वह ही उस का प्रवर्तक हो सकता है। आधुनिक पुरुष तो घट आदि अर्थो मे घट आदि शब्द का प्रयोग अपने पूर्ववर्ती पुरुषो से सीखकर करते हैं। वह उस के स्वतन्त्र प्रवर्तक नहीं होते हैं। उस का स्वतन्त्र प्रवर्तक वही कहा जायगा जिस को घट आदि अर्थो मे घट आदि शब्द के प्रयोग करने की शिक्षा लेने की अपेक्षा नही होती किन्तु वह स्वय निर्धारित करता है कि घट आदि अर्थो को बताने के लिये घट आदि शब्दो का प्रयोग होना चाहिये।

(कुलालादि से ही अन्यथासिद्धि की आशका)

इस सदर्भ मे यह शका हो सकती है कि-'जो जिस वस्तु को बनाता है वही इस वस्तु का नाम निर्धारित करता है। जैसे आधुनिक यन्त्रादि को बनानेवाला मनुष्य उस का कोई नाम निश्चित करता है। उसी प्रकार घट आदि वस्तुओ को निर्माण करनेवाला मनुष्य ही उन के घट आदि नामो को निर्धारित करता है इस प्रकार घट का निर्माण करनेवाला प्रथम कुम्हार ही घट व्यवहार का और पट का निर्माण करनेवाला प्रथम जुलाहा ही पट व्यवहार का मूल प्रवर्तक है। इस प्रकार कुलाल तन्तुवाय इत्यादि आधुनिक मनुष्यो द्वारा ही घटपटादि व्यवहार का प्रवर्तन समव होने से उस के मूल प्रवर्तक के रूप मे ईश्वर की कल्पना नहीं हो सकती'। किन्तु यह शका उचित नहीं है क्योकि शास्त्रो मे सृष्टि के निर्माण और प्रलय दोनो की चर्चा हे। और अनुमान से भी सृष्टि का प्रलय के वाद होना सिद्ध हे। जैसे 'वर्तमान स्थूलद्रव्यात्मक जगत् दृश्यसन्तानशून्ये उपादानकारणे उत्पन्नम्, स्थूलद्रव्यत्वात् प्रदीप्तज्वालावत्।' इस से यह सिद्ध होता है कि प्रलय के वाद नई सृष्टि का निर्माण होता है। अत. एव उस मे घटपट आदि की प्रथम रचना आधुनिक कुलालादि से

प्रत्ययतः=प्रमायाः, 'वेदजन्यप्रमा वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानजन्या, शाब्दप्रमात्वात्, आधुनिकवाक्यजशाब्दप्रमावत् ।'

श्रुतेरपि । वेदोऽसंसारिपुरुषप्रणीतः, वेदत्वात्, इति व्यतिरेकिणः । न च परमते साध्याऽप्रसिद्धिः, 'आत्मत्वमसंसारिवृत्ति, जातित्वात्' इत्यनुमानेन पूर्वं साध्यसाधनात् ।

सभव नहीं है क्योंकि आधुनिक कुलालादि को घट आदि का निर्माण करने के लिये उन के निर्माण की विधि दूसरे से सीखनी होती है । अत सृष्टि के आरम्भ मे घट आदि का प्रथम निर्माण करनेवाला वही पुरुष हो सकता है जिस को उस का निर्माण करने के लिये किसी दूसरे से शिक्षा लेने की आवश्यकता न हो । ऐसा पुरुष ईश्वर ही हो सकता है । इसलिये ईश्वर ही घट आदि का प्रथम निर्माता होने से घट आदि व्यवहार का मूल प्रवर्तक हो सकता है ।

[वेद के प्रमात्मक ज्ञान से वक्ता ईश्वर की सिद्धि]

प्रत्ययत =प्रत्यय से भी ईश्वर का अनुमान हो सकता है । प्रत्यय का अर्थ है प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान-इस से होनेवाले अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है जैसे-वेद से उत्पन्न होनेवाली प्रमा वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थज्ञान से उत्पन्न होती है । क्योंकि वह शब्द से उत्पन्न होनेवाली प्रमा है । जो प्रमा शब्द से उत्पन्न होती है वह वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थज्ञान से ही उत्पन्न होती है । जैसे आधुनिकवाक्य से उत्पन्न होनेवाली प्रमा । आशय यह है कि मनुष्य को जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तब उस ज्ञान का सङ्क्रमण करने के लिए अर्थात् उस ज्ञान को दूसरे मनुष्य तक पहुंचाने के लिये वह वाक्य का प्रयोग करता है और उस वाक्य से दूसरे को उसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है जिस प्रकार के ज्ञान का सङ्क्रमण करने के लिये वक्ता ने वाक्य प्रयोग किया हो । यदि वक्ता का ज्ञान अयथार्थ होता है तो उस ज्ञान का सक्रमण करने के लिये प्रयुक्त होनेवाले वाक्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अयथार्थ होता है । और यदि वक्ता का ज्ञान यथार्थ होता है तो उस के वाक्य से श्रोता को उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यथार्थ होता है । इस प्रकार वाक्य से यथार्थज्ञान का जन्म वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञानपर निर्भर है । वेद भी वाक्यस्वरूप है । अत. एव उस से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यथार्थ तभी हो सकता है जब वेदवक्ता को वेदार्थ का यथार्थ ज्ञान हो । यत. वेद से होनेवाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान माना जाता है अतः यह मानना आवश्यक है कि वेद वक्ता को वेदार्थ का यथार्थ ज्ञान है । वह यथार्थज्ञान आधुनिक वक्ता को नहीं हो सकता । क्योंकि आधुनिक वक्ता को जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणो से ही होता है और स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवाक्यो के अर्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुमान आदि से नहीं उत्पन्न किया जा सकता । अत' यह मानना आवश्यक है कि वेद का वक्ता कोई ऐसा पुरुष है जिसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि साधनो के विना ही वेदार्थ का यथार्थज्ञान हो जाता है । इस प्रकार जिस पुरुष के वेदार्थ विषयक यथार्थज्ञान द्वारा वेद से होने वाली यथार्थ बुद्धि का उदय हो सकता है वह पुरुष ईश्वर से अन्य नहीं हो सकता ।

[वेद किसी असंसारी पुरुष से जन्य है]

श्रुति=वेद से भी ईश्वर का अनुमान होता है । और वह अनुमान व्यतिरेकी होता है । उस का प्रयोग इस प्रकार होता है-जैसे 'वेद असंसारी पुरुष द्वारा रचित है, क्योंकि वह वेद है । जो असंसारी पुरुष से रचित नहीं होता वह वेद नहीं होता-जैसे आधुनिक काव्यादि ।'-इस अनुमान से यह शंका हो सकती है कि-'असंसारी पुरुष की सत्ता मे कोई प्रमाण न होने से 'असंसारी पुरुष से रचित होना'

वाक्यादपि । वेदः पौरुषेयः, वाक्यत्वात्, भारतवत् इत्यन्वयिनः ।

सङ्ख्याविशेषः=द्व्यणुकपरिमाणजनिका संख्या, ततोऽपि । 'इयं संख्या, अपेक्षाबुद्धिजन्या, एकत्वान्यसंख्यात्वात्,' इत्यस्मदाद्यपेक्षाबुद्ध्यजन्यत्वादतिरिक्तापेक्षाबुद्धिसिद्धौ तदाश्रयतयेश्वरसिद्धेः । न चाऽसिद्धिः, 'द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यम्, जन्यपरिमाणत्वात, घटादिपरिमाणवत्' । न वा दृष्टान्तासिद्धिः, द्वि-कपालादिपरिमाणात् त्रिकपालादिघटपरिमाणोत्कर्षादिति दिग् ।

रूप साध्य अप्रसिद्ध है ।'–किन्तु विचार करने से यह शङ्का उचित नहीं प्रतीत होती है क्योंकि असंसारी पुरुष अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं । जैसे-'आत्मत्व असंसारी मे विद्यमान है, क्योंकि वह जाति है । जो भी जाति होती है वह असंसारी मे विद्यमान होती है जैसे घटत्व पटत्व आदि जाति ।' आशय यह है कि संसार का अर्थ है मिथ्याज्ञान या मिथ्याज्ञानजन्यवासना अथवा शुभाऽशुभ कर्मों का बन्ध । यह संसार चेतनगत होने से घटपटादि मे नही रह सकता । अत एव घटपटादि असंसारी कहा जाता है । घटत्व पटत्व जाति असंसारी घट आदि मे रहती है । तो जैसे घटत्व पटत्व जाति होने से असंसारी मे विद्यमान होती है वैसे आत्मत्व-पुरुषत्व को भी जाति होने के कारण असंसारी मे विद्यमान होना चाहिये । और यह तभी हो सकता है जब किसी पुरुष को असंसारी माना जाय । क्योंकि आत्मत्व पुरुष का ही धर्म है, असंसारी घटपटादि का धर्म नही है । इस अनुमान से असंसारी पुरुष सिद्ध है । अत. साध्याऽप्रसिद्धि की शङ्का नही हो सकती है ।

## (वाक्य पक्षक अनुमान]

वाक्य से भी ईश्वर का अनुमान होता है और वह अनुमान अन्वयी होता है । जैसे. वेद पुरुष से रचित है क्योंकि वह वाक्य है । जो भी वाक्य होता है वह पुरुष से रचित होता है जैसे महाभारत-रामायण आदि । इस अनुमान मे वाक्यत्व हेतु है । इसलिये उसे समझ लेना आवश्यक है अन्यथा उस मे इस आधार पर इस प्रकार के व्यभिचार की शङ्का हो सकती है कि 'कोई ऐसा भी वाक्य हो सकता है जो पुरुष से रचित नही होता ।' जिज्ञासा होती है कि वाक्य का ऐसा क्या अर्थ है कि जिस से पुरुष से अरचित वाक्य की संभावना न हो । उत्तर यह है कि वाक्य ऐसे पदो के समूह को कहा जाता है जो पद परस्पर मे साकाङ्क्ष हो, एकदूसरे से आसन्न हो, योग्यार्थक हो और किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने की ईच्छा से प्रयुक्त हो । तो इसप्रकार वाक्य लक्षण के गर्भ मे वाक्यार्थ बोधन की इच्छा के प्रविष्ट होने से बिना पुरुष के कोई वाक्य नहीं हो सकता । क्योंकि विशिष्टार्थ बोधन की इच्छा पुरुष मे ही संभव है और उस के बिना वाक्य की निष्पत्ति अशक्य है ।

## (द्व्यणुकपरिमाणोत्पादकसंख्याजनक अपेक्षाबुद्धि से ईश्वरसिद्धि)

संख्याविशेष से भी ईश्वर का अनुमान होता है और वह विशेष संख्या है द्व्यणुक में परिमाण को उत्पन्न करनेवाली परमाणुगत द्वित्व संख्या । उस संख्या से होनेवाला अनुमान का प्रयोग इसप्रकार होता है जैसे "द्व्यणुक परिमाण की उत्पादिका परमाणुगत द्वित्वसंख्या अपेक्षाबुद्धि से जन्य है,

क्योंकि वह एकत्व से भिन्न संख्या है। एकत्व से भिन्न जो भी संख्या होती है वे सभी अपेक्षाबुद्धि से जन्य होती हैं जैसे दो घटों में रहने वाली द्वित्व संख्या 'अयमेक घट, अयमेक घट' इस अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है।" इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि परमाणुओं में भी 'अयमेक परमाणु अयमेकः परमाणु' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि होती है और उस से परमाणु में उत्पन्न होने वाला द्वित्व द्वयणुक परिमाण को उत्पन्न करता है। परमाणुओं में होने वाली यह अपेक्षाबुद्धि जीवों में संभव नहीं है क्योंकि जीवों को परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि अनुमान आदि से परमाणुओं में अपेक्षाबुद्धि की कल्पना की जाय तो वह भी सृष्टि के आरम्भकाल में संभव नहीं है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भकाल में जो द्वयणुक उत्पन्न होगा उसमें परिमाण उत्पन्न करने के लिये उस समय परमाणु में द्वित्व की आवश्यकता होगी और उसकी उत्पत्ति के लिये उसी समय परमाणुओं में अपेक्षाबुद्धि अपेक्षित है। और उस समय जीवों के शरीर न होने से जीवों में बुद्धि की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। इसलिये परमाणुओं में ईश्वर की ही अपेक्षाबुद्धि माननी होगी। ईश्वर के बिना परमाणुओं में अपेक्षाबुद्धि न होने से उन में द्वित्व की उत्पत्ति हो सकेगी और द्वित्व के अभाव में द्वयणुक में परिमाण न उत्पन्न हो सकेगा।

## [द्वयणुकपरिमाण में संख्याजन्यत्व पर आशंका]

इस अनुमान में यह शङ्का हो सकती है- "द्वयणुकपरिमाण के संख्या के जन्यत्व में कोई प्रमाण न होने से द्वयणुकपरिमाणजनक परमाणुगतद्वित्व संख्या रूप पक्ष असिद्ध है"-किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि अनुमान से उक्त संख्या सिद्ध है जैसे "द्वयणुक का परिमाण संख्याजन्य है, क्योंकि वह जन्यपरिमाण है। जो जन्य परिमाण होता है वह संख्या से जन्य होता है जैसे घटादि का परिमाण। यदि यह कहा जाय-"इस अनुमान में दृष्टान्त असिद्ध है क्योंकि घट आदि का परिमाण कपाल आदि के परिमाण से उत्पन्न होने के कारण संख्याजन्य नहीं होता-" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि परिमाणजन्य परिमाण को भी संख्याजन्य मानना आवश्यक है। अन्यथा समान परिमाणवाले दो कपालों से उत्पन्न होने वाले घट के परिमाण से समान परिमाण वाले तीन कपालों से उत्पन्न होने वाले घट-का परिमाण अधिक न हो सकेगा। क्योंकि दोनों घटों के परिमाण को उत्पन्न करने वाले कपाल परिमाण समान ही है। और जब परिमाण को संख्याजन्य माना जायगा तो पूर्वघट का परिमाण कपालगत द्वित्व संख्या से उत्पन्न होगा और दूसरा घट कपालगत त्रित्व संख्या से उत्पन्न होगा। त्रित्व संख्या द्वित्व संख्या से बडी होती है। इसलिये त्रित्व संख्या से उत्पन्न होनेवाले द्वितीयघट के परिमाण का द्वित्वसंख्या से उत्पन्न होनेवाले पूर्वघट के परिमाण की अपेक्षा अधिक होना युक्तिसङ्गत हो सकता है।

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का हो सकती है-'द्वयणुकपरिमाण संख्याजन्यम्' इस अनुमान में पक्ष असिद्ध है क्योंकि द्वयणुक के परिमाण होने में कोई प्रमाण नहीं है।' परन्तु किञ्चित् विचार करने से यह शङ्का निरस्त हो जाती है क्योंकि द्वयणुक में परिमाण और उस परिमाण में जन्यता दोनों ही अनुमान प्रमाण से सिद्ध है जैसे 'द्वयणुकं परिमाणवत् द्रव्यत्वात्' और द्वयणुकपरिमाण जन्य जन्यद्रव्य-परिमाणत्वात्'। द्वयणुक में जन्यद्रव्यत्व के असिद्धि की शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि 'द्वयणुक जन्यद्रव्यं सावयवत्वात्' इस अनुमान से जन्यद्रव्यत्व सिद्ध है। द्वयणुक में सावयवत्व की असिद्धि की भी शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि वह भी 'द्वयणुकं सावयव प्रत्यक्षद्रव्याश्रयत्वात् कपालादिवत्' इत्यादि अनुमान से सिद्ध है।

अथवा, कार्यं=तात्पर्यं वेदे यस्य तत् , स एवेश्वरः । आयोजनं सद्व्याख्या, 'वेदाः केनचिद् व्याख्याताः, महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वात्' । अव्याख्यातत्वे तदर्थानवगमेऽननुष्ठानापत्तेः, एकदेशदर्शिनोऽस्मदादेश्च व्याख्यायामविश्वासः, इति तद्व्याख्ययेश्वरसिद्धिः । धृतिर्धारणं मेधाख्यज्ञानम् , आदिपदार्थोऽनुष्ठानम् ततोऽपि । 'वेदा वेदविषयकजन्यधारणान्यधारणाविषयाः, धृतिवाक्यत्वात् , लौकिकवाक्यवत् ; यागादिकं यागादिविषयकजन्यज्ञानान्यज्ञानवदनुष्ठितम् , अनुष्ठितत्वात् गमनवत्' इति प्रयोगः । पदं प्रणवेश्वरादिपदम् , तत्सार्थक्यात् स्वतन्त्रोच्चारयितृशक्त [1]श्रुत्यादिस्थाऽहंपदाद् वा । न चेश्वरादिपदस्य स्वपरता,

"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः [2]षडन्तरङ्गाणि महेश्वरस्य ॥ 1 ॥

इत्यादिवाक्यशेषेण 'ईश्वरमुपासीत' इत्यादिविधिस्थेश्वरादिपदशक्तिग्रहात् , यथा यवादिपदस्य "[3]वसन्ते सर्वसस्यानां०" इत्यादिवाक्यशेषाच्छक्तिग्रहेण न कङ्गवादिपरता ।

['कार्यायोजन०' कारिका की अन्य प्रकार से योजना]

कार्यायोजन० इत्यादि कारिका से ईश्वर अनुमान करने का दूसरा भी प्रकार सूचित होता है जैसे कार्य का अर्थ है तात्पर्य । उससे ईश्वर का अनुमान इस रूप से हो सकता है–'वेद' सतात्पर्यक. (अर्थात्' अर्थविशेषबोधनेच्छाप्रयुक्तः, अर्थविशेषबोधकशब्दत्वात् आधुनिकशब्दवत् ।' इस अनुमान से वेद का अर्थविशेष मे तात्पर्य सिद्ध होता है । तात्पर्य इच्छारूप होता है अत एव वह किसी आश्रय के बिना नही रह सकता । अतः उस का कोई आश्रय मानना आवश्यक है । जीव उस तात्पर्य का आश्रय नहीं हो सकता क्योकि वह वेद का आद्य वक्ता नहीं है। जिस शब्द का आद्यवक्ता होता है वह शब्द उसी के तात्पर्य से प्रयुक्त होता है अतः उस तात्पर्य के आश्रय रूप मे ईश्वर का स्वीकार आवश्यक है ।

[वेद की यथार्थव्याख्या ईश्वर प्रयुक्त है]

आयोजन का अर्थ है यथार्थव्याख्या । उस से भी ईश्वरानुमान होता है। जैसे वेद किसी पुरुष से व्याख्यात है क्योकि वह महाजन से परिगृहीत वाक्य है । व्याख्यात होने का अर्थ है सुगम वाक्यो से अर्थ का बोधन होना या अर्थ का बोधित होना । और महाजनपरिगृहीत होने का अर्थ है महाजनो द्वारा पढा जाना, अर्थ ज्ञान प्राप्त करना, और ज्ञात अर्थ का अनुष्ठान या वर्णन करना । महाजन का अर्थ है सत् और असत् की परीक्षा कर के सत् का ग्रहण और असत् का परित्याग करने की प्रवृत्ति से सपन्न होना । यदि वेदो की व्याख्या न होती तो वेदार्थ का ज्ञान न होता और वेदार्थ के

[१] "पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामह."[भ. गी ९।१७] इत्यादौ । [२] 'षडाहुरङ्गानि' इत्यन्यत्र ग्रन्थे पाठ । [३] 'जायते पत्रशातनम्, मोदमानाश्च तिष्ठन्ति, यवा कणीशशालिन ' इति शेष पादत्रयम् । आदिना 'वराहं गावोऽनुधावन्ति' इत्यादि ।

ज्ञान के अभाव मे वेद के अनुसार कर्मा का अनुष्ठान आदि का प्रचलन न होता। अत: वेदार्थ का अनुष्ठान, वेदार्थ का ज्ञान और वेदो का अध्ययन महाजनो द्वारा होता है अतः किसी वेदार्थज्ञ के द्वारा उस की व्याख्या मानना आवश्यक है। यह व्याख्या किसी जीव द्वारा सपन्न नहीं हो सकती है क्योकि यह अल्पज्ञ होता है और वेदार्थ अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। अतः एव अनेक अर्थो मे गर्भित वाक्य की अल्पज्ञ द्वारा की जाने वाली व्याख्या मे महाजनों को विश्वास नहीं पडता। इसलिये वेदो का व्याख्याता ऐसे ही पुरुष को मानना होगा जो सपूर्ण वेदार्थ को बिना किसी साधन के सहारे जानता हो। ऐसा पुरुष परमेश्वर से अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता।

## (वेदविषयक विशिष्टज्ञानरूप धृति से अनुमान)

धृति का अर्थ है-धारणा, धारणा का अर्थ है विशेष प्रकार का ज्ञान। जिसे मेधा शब्द से व्यवहृत किया जाता है। और धृत्यादि मे आदि शब्द का अर्थ है अनुष्ठान। इस विशिष्ट ज्ञानात्मक धृति और अनुष्ठान से भी ईश्वर का अनुमान होता है, जैसे धृतिमूलक अनुमान का प्रयोग इस रूप मे किया जा सकता है-वेद वेदविषयक जन्यधृति, से अन्य धृति का विषय है क्योंकि धृति का विषयभूत वाक्य है। जो भी धृति का विषयभूत वाक्य होता है वह सब वेदविषयक जन्यधृति से अन्यधृति विषयक होता है जैसे लौकिकवाक्य महाभारत रामायण प्रभृति। आशय यह है कि लौकिक वाक्य की धृति वेदविषयकधृति से अन्य है, क्योंकि वह जन्य धृति होते हुए भी वेदविषयक नहीं है। उसी प्रकार वेद जिस धृति का विषय है उसे भी वेदविषयकधृति से अन्य होना चाहिये और वह धृति वेदविषयक होती है अत: वेदविषयकधृति से अन्य धृति उसी दशा मे हो सकती है जब उसे नित्य माना जाय। इस प्रकार यह भी सिद्ध होता है कि वेदविषयक नित्यज्ञान जो वेद को विषय करता है वह नित्यज्ञान जीव को हो नहीं सकता क्योकि जीव में ज्ञान का सम्बन्ध साधनो द्वारा ही सपन्न होता है अत उस ज्ञान के आश्रय रूप में ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है।

## (यागानुष्ठान से अनुमान)

अनुष्ठान से तीसरा अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है जैसे याग=यागकर्म=यागविषयककर्म जन्यज्ञान से अन्य ज्ञानवाले पुरुषो से अनुष्ठित हुआ है। क्योकि वह अनुष्ठित होता है। जो अनुष्ठित होता है वह सब यागादि जन्यविषयक ज्ञान से अन्य ज्ञानवाले पुरुषो से अनुष्ठित होता है जैसे गमनभोजनादि। आशय यह है गमनभोजनादि 'अस्माभिः गन्तव्य, अस्माभिः भोक्तव्य' इत्यादि ज्ञान से युक्त पुरुषो द्वारा अनुष्ठित होता है और यह ज्ञान जन्यज्ञानरूप होने पर भी यागादिविषयक न होने से यागादिविषयक जन्य ज्ञान से अन्य ज्ञान कहलाता है। उसी प्रकार यागादि जिस ज्ञान से होता है उसे भी यागादिविषयक जन्यज्ञान से अन्य होना चाहिये। और वह ज्ञान यत: यागादिविषयक है अत उसे नित्य मानने पर ही वह यागादिविषयक जन्यज्ञान से अन्य ज्ञान हो सकता है। और वह ज्ञान जीव मे आश्रित नहीं होता इसलिये उस के आश्रयरूप मे ईश्वर की सिद्धि आवश्यक है।

## (ॐ-अर्हं-ईश्वर आदि पद से अनुमान]

पद का अर्थ है 'प्रणव' नामक पद जिसे 'ॐ' कहा जाता है, और 'ईश्वर' आदि पद। इन पदो से भी ईश्वरानुमान होता है जैसे-'ॐ' यह प्रणव पद और ईश्वरादि पद सार्थक हैं क्योकि वह साध्य-

प्रत्ययो=विधिप्रत्ययः, ततोऽपि, आप्ताभिप्रायस्यैव विध्यर्थत्वात् । न हीष्टसाधनत्वमेव

पद है । जो साध्यपद होता है वह सार्थक होता हैं जैसे घट आदि पद ।' उन पदो की सार्थकता अन्य किसी पदार्थ के द्वारा नही हो सकती क्योकि अन्य किसी भी पदार्थ को चाहे वह जीव हो या चाहे जीव से भिन्न जड हो उसे ॐ या ईश्वर आदि पद से नहीं अभिहित किया जाता है । इसलिये उस की सार्थकता की उत्पत्ति के लिये ईश्वर को उन पदो का अर्थ मानना आवश्यक है ।

वेद मे उपलब्ध होनेवाले 'अहम्' पद से भी ईश्वर का अनुमान होता है जैसे-वेदस्थ 'अहम्' पद स्वतन्त्र उच्चारणकर्ता का वाचक है क्योकि वह अहम् पद है । जो भी अहम् पद होता है वह सब स्वतन्त्र उच्चारण कर्ता का वाचक होता है जैसे 'अह गच्छामि' 'अह इच्छामि' इत्यादि लौकिक वाक्यस्थ 'अहम्' पद अपने मूरा वक्ता का बोधक होता है । वेदस्थ 'अहम्' पद का स्वतन्त्र उच्चारणकर्त्ता कोई जीव नहीं हो सकता क्योकि जो भी जीव 'अहम्' पद युक्त वैदिक वाक्यो का उच्चारण करता है वह अन्य पुरुष से उस वाक्य के उच्चारण को सीखकर ही करता है । अत एव कोई ऐसा पुरुष मानना आवश्यक है जिसने वेदस्थ अहम् पद का सर्व प्रथम प्रयोग किया, जिसे उस के प्रयोग के लिये किसी दूसरे से शिक्षा नहीं लेनी पडी । ऐसा वैदिक अहम् पद का स्वतत्र उच्चारणकर्ता ईश्वर ही हो सकता है ।

इस प्रसङ्ग मे यह शका हो सकती है-"ईश्वरादि पद अपने स्वरूप का ही बोधन करते हैं । इस प्रकार अपने स्वरूप के बोधन से भी उन पदो की सार्थकता उपपन्न हो जाने से उन पदो के अर्थ के रूप मे ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है ।"-किन्तु विचार करने पर यह शका सबल नहीं है क्योंकि 'ईश्वरमुपासीत' इस विधिवाक्य का श्रवण होने पर यह जिज्ञासा होती है-'ईश्वर शब्द का क्या अर्थ है जिस की उपासना का इस वाक्य से विधान किया जा रहा है' ? इस जिज्ञासा के समाधान के लिये 'सर्वज्ञता तृप्ति०' आदि वचन प्रस्तुत होता है । उस के अनुसार 'ईश्वरमुपासीत' इस विधिवाक्य के ज्ञाता पुरुषो की दृष्टि मे ईश्वर वह पुरूष है जो सर्वज्ञ हो, नित्य तृप्त हो अर्थात् जिसे कभी अपने सुख की कामना न हो, नित्यज्ञान से सपन्न हो, स्वतत्र हो अर्थात् जिस की इच्छा अन्य पुरुष की इच्छा को अधीन न हो और जिस की शक्ति का कभी लोप न हो और अनन्त हो । अर्थात् जिस का प्रयत्न नित्य और सर्वविषयक हो और जो विभु=व्यापक हो । इस प्रकार 'ईश्वरमुपासीत' इस विधिवाक्य के पूरक 'सर्वज्ञतातृप्ति' आदि वाक्य से उक्त प्रकार का पुरुष विशेष ईश्वरपद का अर्थ है यह सिद्ध होता है । शब्दार्थ के निश्चय की यह रीति उसी प्रकार मान्य है जैसे 'यवै यजेत' इस वाक्य के पूरक "वसन्ते सर्वशस्याना जायते पत्रशातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवा कणीशशालिन" इस वाक्य से यव पद के अर्थ का निर्णय करने की रीति । इस वाक्य से यह निश्चय होता है कि म्लेच्छो द्वारा यव शब्द से व्यवहृत होने वाला कङ्गु आदि यव शब्द का अर्थ नहीं है किन्तु वसन्त ऋतु मे अन्य सपूर्ण सस्यो के पत्ते गिर जाने पर भी जो अपने कणसभर पत्तो के साथ विद्यमान होता है ऐसा सस्य ही यव शब्द का अर्थ है ।

[यजेत इत्यादि मे [illegible] अनुमान]

प्रत्यय का अर्थ है विधि प्रत्यय । उस से भी ई[illegible] [illegible]न होता है । क्योंकि [illegible]

अर्थ होता है आप्ताभिप्राय । जैसे गुरु यदि शिष्य [illegible] है 'मुक्तिकाम हरि [illegible]

तथा, 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इत्युक्तौ, 'कुतः' इति प्रश्ने 'यतो दारुमथनमग्निसाधनम्' इत्युत्तरेऽग्निसाधनत्वेन विध्यर्थत्वचानुमानानुपपत्तेः, अभेदे हेतुत्वेनोपन्यासाऽनौचित्यात, 'तरति मृत्युम्०' इत्यादौ विधिवाक्यानुमानानुपपत्तेश्चेष्टसाधनतायाः प्रागेव बोधात्; 'कुर्याः, कुर्याम्' इत्यादौ वक्तृसङ्कल्पस्यैव बोधात्, आज्ञाऽध्येषणा-ऽनुज्ञा-संप्रश्न-प्रार्थना-ऽऽशंसालिङ्दीच्छाशक्तत्वस्यैव कल्पनाच्च। उल्लङ्घने क्रोधादिभयजनिकेच्छाऽऽज्ञा, अध्येषणीये प्रयोक्तुरनुग्रहद्योतिकाऽध्येषणा, निषेधाभावव्यञ्जिकाऽनुज्ञा, प्रयोजनादिजिज्ञासा प्रश्नः, प्राप्तीच्छा प्रार्थना, शुभेच्छाऽऽशंसा। निषेधानुपपत्तेश्च, इष्टसाधनत्वनिषेधस्य बाधात्; बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्यापि तदर्थत्वे 'श्येनेन०' इत्यादौ अलसस्य यागादिदुःखेऽपि बलवद्द्वेषेण 'यजेत' इत्यादौ बाधात्। तत आप्ताभिप्रायस्यैव विध्यर्थत्वात् तादृशाभिप्रायवदीश्वरसिद्धिः।

चाहने वाले को भगवान का स्मरण करना चाहिये, तो शिष्य को इस विधिप्रत्ययघटितवाक्य से यह बोध होता है–'भगवान का स्मरण यही मुमुक्षु का कर्तव्य है-यह गुरुदेव का अभिप्राय है।' इस अभिप्राय को जान कर ही शिष्य भगवान के स्मरण मे प्रवृत्त होता है, क्योंकि गुरु जन के अभिप्राय को जान कर तदनुसार कार्य करना ही शिष्टाचार-प्राप्त कर्तव्य है। वेदवाक्य मे भी विधिप्रत्यय होता है जैसे स्वर्गकामो यजेत मे यज् धातु के उत्तर मे श्रूयमाण लिङ् प्रत्यय। इस लिङ्प्रत्यय का भी अर्थ आप्त का अभिप्राय' मानना होगा। अर्थात् इस लिङ् प्रत्यय घटित वाक्य से भी इस प्रकार का ही बोध मानना होगा 'यज्ञ स्वर्गकाम पुरुष का कर्तव्य है यह "स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य के प्रयोग करने वाले आप्त का अभिप्राय है'। यह अभिप्राय उसी पुरुष का हो सकता है जिसे यह सहज ज्ञान हो कि याग स्वर्ग का साधन होता है। ऐसा पुरुष कोई जीव न होगा, ईश्वर ही हो सकता है क्योंकि याग मे स्वर्गसाधनता का सहज ज्ञान जीव को नहीं हो सकता, वह ईश्वर को ही सम्भवित है क्योंकि वह सपूर्ण पदार्थों का साधननिरपेक्ष द्रष्टा होता है। इस प्रकार वेदस्थ विधिवाक्य मे सूचित होनेवाले आप्त के अभिप्राय के आश्रय रूप मे ईश्वर का अनुमान होता है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है जैसे 'वेदस्थ विधि प्रत्यय आप्ताभिप्राय का बोधक है, क्योंकि वह विधिप्रत्यय है, जो भी विधि प्रत्यय होता है वह सब आप्ताभिप्राय का बोधक होता है। जैसे 'भृत्य आपणम् गच्छेत्' 'शिष्यः शास्त्रम् पठेत्' 'वत्सः दुग्ध पिवेत्' इत्यादि लौकिक वाक्यों मे सुनाई देनेवाला विधि प्रत्यय।

### [विधिप्रत्ययार्थ इष्टसाधनता या आप्ताभिप्राय ?

इस प्रसङ्ग मे यह शङ्का हो सकती है–"विधिप्रत्यय चाहे लौकिकवाक्य हो चाहे वैदिकवाक्य हो, सर्वत्र उस का इष्टसाधनत्व ही अर्थ होता है न कि आप्ताभिप्राय। क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्ति इष्टसाधनताज्ञान से ही होती है, न कि आप्ताभिप्राय के ज्ञान से। अत. आप्ताभिप्राय को विधिप्रत्यय का अर्थ मानने पर भी यही मानना होगा कि विधि प्रत्यय से आप्ताभिप्राय का ज्ञान होता है और

आप्ताभिप्राय से इष्टसाधनता का ज्ञान होता है और उस ज्ञान से मनुष्य की प्रवृत्ति होती हैं। जैसे, गुरु के 'मोक्षकाम हरिं स्मरेत्' इस वाक्य से हरिस्मरणम् मोक्षकामकर्तव्यतया गुरो अभिप्रेतम्' अर्थात् 'भगवान का स्मरण मुमुक्षु पुरुष के कर्तव्य रूप मे गुरु को अभिप्रेत हैं' यह ज्ञान होने पर यह अनुमान होता है- भगवत् स्मरण मोक्ष का साधन है क्योकि **मोक्षकाम** के कर्तव्यरूप मे आप्त को अभिप्रेत है। जो जिस फल का साधन नहीं होता वह उस फल को चाहने वाले पुरुष के कर्तव्यरूप मे आप्ताभिप्रेत नहीं होता । जैसे द्यूतक्रीडा आदि मोक्ष का साधन न होने से किसी आप्तपुरुष को मोक्षकाम के कर्तव्यरूप मे अभिप्रेत नहीं होता'-इस प्रकार जब आप्ताभिप्राय के द्वारा इष्टसाधनता का बोध मनुष्य की प्रवृत्ति के लिये अपेक्षित है तो विधिप्रत्यय से आप्ताभिप्राय का बोध और आप्ताभिप्राय से इष्ट साधनता का अनुमान मानने की अपेक्षा यही मानना उचित है-इष्ट साधनता ही विधिप्रत्यय का अर्थ है। विधिप्रत्यय-घटित वाक्य से इष्टसाधनता का ही सीधा बोध होता है, मध्य मे आप्ताभिप्राय के बोध की कल्पना अनावश्यक है। इसप्रकार जब इष्टसाधनता ही युक्तिद्वारा विधिप्रत्यय का अर्थ सिद्ध होता है तो उक्त रीति से विधि प्रत्यय को ईश्वर का अनुमापक बताना उचित नहीं हो सकता।"–

## (इष्टसाधनता पक्ष मे समस्या)

किन्तु विचार करने पर यह शङ्का उचित नहीं प्रतीत होती। क्योकि विधिप्रत्यय के अर्थ का अनुमान इष्टसाधनत्व से किया जाता है। यदि इष्टसाधनत्व ही विधिप्रत्यय का अर्थ होगा तो साध्य साधन मे ऐक्य हो जाने के कारण इष्टसाधनत्व विधिप्रत्ययार्थ का अनुमापक न हो सकेगा। जैसे 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात् =अग्नि चाहनेवाले मनुष्यो को दो काष्ठो का घर्षण करना चाहिये।' इस विध्यर्थ का ज्ञान होने पर प्रश्न होता है-ऐसा क्यो ? अर्थात् 'कुत अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात् ?' इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जाता है कि दारुमथन अग्नि का साधन है'। इसप्रकार उक्त वाक्य से विध्यर्थ का ज्ञान होने मे अग्निसाधनता को उसके हेतुरूप मे प्रसिद्ध किया जाता है। इसलिये यह मानना आवश्यक है कि विध्यर्थ इष्टसाधनता से भिन्न है और जब आप्ताभिप्राय को विधिप्रत्यय का अर्थ माना जायगा तब 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इस वाक्य से दारु मथन अग्निकामी के कर्तव्य रूप मे आप्त को अभिप्रेत है-यह ज्ञान होगा। और उस पर जब यह प्रश्न होगा कि 'दारु का मथन अग्निकामी के कर्तव्यरूप मे आप्त को क्यो अभिप्रेत है' ? इस के उत्तर मे यह कहना सङ्गत होगा कि-यत दारुमथन अग्नि का साधन है इसलिये अग्निकामी के कर्त्तव्यरूप मे आप्त को अभिप्रेत है।

## (तरति मृत्यु ० से विधिवाक्य का अनुमान)

इष्टसाधनता को विधि प्रत्यय का अर्थ मानने पर 'तरति मृत्युम् आत्मविद्' इत्यादि वाक्यो से विधिवाक्य का अनुमान न हो सकेगा क्योकि विधिवाक्यानुमान के पूर्व ही उन स्थलो मे इष्टसाधनता का बोध हो जाता है। आशय यह है कि 'आत्मज्ञो मृत्युं तरति' यह वाक्य इस अर्थ को बताता है कि 'आत्मज्ञानी मृत्यु का अतिक्रमण कर लेता है'। इस अर्थबोध के बाद यह जिज्ञासा होती है कि आत्मज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण होता है इस मे क्या प्रमाण है? उस के उत्तर मे यह कहा जाता है कि 'आत्मज्ञो मृत्यु तरति' इस वाक्य से आत्मज्ञान के मृत्युतरणरूप फल का श्रवण होने पर इस विधिवाक्य का अनुमान होता है कि 'मृत्युतरणकाम आत्मान जानीयात्', यह विधिवाक्य ही आत्मज्ञान के मृत्युतरण

की साधनता में प्रमाण है। किन्तु यदि विधिप्रत्यय का अर्थ इष्टसाधनता को माना जाय तो 'आत्मज्ञो मृत्यु तरति' इस वाक्य से ही आत्मज्ञान में मृत्युतरण की साधनता का बोध हो जाने से उस बोध के सपादनार्थ विधिवाक्य का अनुमान निरर्थक हो जायगा। और यदि विधि प्रत्यय का अर्थ आप्ताभिप्राय माना जायगा तब 'आत्मज्ञो मृत्यु तरति' इस वाक्य से आत्मज्ञान मृत्युतरण का साधन है यही बोध होने के कारण आत्मज्ञान मृत्युतरण चाहने वाले के कर्तव्यरूप में आप्ताभिप्रेत है इस विध्यर्थ का ज्ञान कराने के लिये विधिवाक्य के अनुमान की सार्थकता हो सकेगी। क्योंकि यह बोध 'आत्मज्ञो मृत्यु तरति' इस वाक्य से नहीं होता।

विधिप्रत्यय से ईश्वरानुमान होने का एक और भी प्रकार है जैसे, वेदवाक्य में मध्यम पुरुषीय और उत्तम पुरुषीय विधि प्रत्यय भी उपलब्ध होते हैं। जैसे आत्मानम् विद्धि=आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो'। 'एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय=मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ और प्रकृष्ट रूप में प्रादुर्भूत होऊं।' इन वाक्यों में आये विधिप्रत्यय को उन से घटित वाक्य के वक्ता के सकल्प का बोधक मानना आवश्यक है क्योंकि मध्यम और उत्तम पुरुषीय विधिप्रत्यय वक्ता के ही संकल्प का बोधक होता है। जैसे इद कार्यं कुर्या।' इन लौकिक वाक्यों में आये विधिप्रत्यय से वक्ता के ही सकल्प का बोध होता है। इसप्रकार वैदिक वाक्यों में आये विधिप्रत्यय से जिस वक्ता के सकल्प का बोध होगा वह जीव नहीं हो सकता किन्तु ईश्वर ही हो सकता है। क्योंकि वेद का आद्यवक्ता ईश्वर ही हो सकता है जीव नहीं हो सकता।

इसी प्रकार आज्ञा अध्येषणा अनुज्ञा सप्रश्न प्रार्थना और आशसा बोधक लिङ्प्रत्यय भी इच्छारूप अर्थ का ही बोधक होता है और यह सभी प्रकार के लिङ्वेदों में उपलब्ध होते हैं। अत एव उन से बोधित होनेवाली इच्छा के आश्रय रूप में ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है। लिङ् के आज्ञा आदि अर्थों के निर्वचन से लिङ् की इच्छावाचकता स्पष्ट है। जैसे—

आज्ञा का अर्थ वह इच्छा है जिस का उल्लङ्घन करने पर इच्छावान् पुरुष क्रुद्ध होने का सभव हो।

अध्येषणा का अर्थ है वह इच्छा जिस से अध्येषणार्थक लिङ् का प्रयोग करने वाले पुरुष की अध्येषणीय पुरुष के प्रति कृपा का बोध हो।

अनुज्ञा का अर्थ वह इच्छा है जिस से निषेध का अभाव सूचित हो।

प्रयोजन अथवा हेतु आदि को जानने की इच्छा का नाम है प्रश्न।

किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा का नाम है प्रार्थना।

शुभ की इच्छा का नाम है आशसा। इस प्रकार आज्ञा आदि के इस निर्वचन के अनुसार आज्ञादि बोधक लिङ् की इच्छा की बोधकता स्पष्ट है।

## [ निषेध की अनुपपत्ति ]

इष्टसाधनत्व को विधि प्रत्यय का अर्थ मानने में एक और भी बाधा है और वह है निषेध की अनुपपत्ति। जसे 'सविषमन्न मा भुंक्ष्व' इस निषेध वाक्य सविष अन्न के भोजन में विध्यर्थ का निषेध करता है। यदि विध्यर्थ इष्टसाधनता' होगा तो इस वाक्य का अर्थ होगा 'सविष अन्न का भोजन इष्ट का साधन नहीं होता' जो असगत है क्योंकि भोजनकर्ता को इष्ट होती है तृप्ति=भूख की निवृत्ति। वह सविष अन्न के भोजन से भी सपन्न होती है, इसलिये सविष अन्न के भोजन में इष्ट-

श्रुतिः=ईश्वरविषयो वेदः ततः, 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादेर्विध्येकवाक्यतया'यद् न दुःखेन संभिन्नम्'० इत्यादिवत् तस्य स्वार्थ एव प्रामाण्यात् । वाक्यात्=वैदिकप्रशंसा-निन्दावाक्यात्, तस्य तदर्थज्ञानपूर्वकत्वात् । संख्या 'स्यामभूवम्, भविष्यामि' इत्याद्युक्ता । ततोऽपि स्वतन्त्रोच्चारयितृनिष्ठाया एव तस्या अभिधानादितिरहस्यम् ।

साधनता रहने के कारण उक्त वाक्य को इष्टसाधनता के अभाव का बोधक मानना उचित नही हो सकता । यदि यह कहा जाय-'केवल इष्टसाधनत्व को विधिप्रत्यय का अर्थ मानने पर यह दोष हो सकता है, किन्तु 'बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टइष्टसाधनता अर्थात् बलवान अनिष्ट का साधन न होते हुए इष्ट का साधन होना' इस को विधि प्रत्यय का अर्थ मानने मे उक्त दोष नहीं हो सकता क्योकि सविष अन्न का भोजन यद्यपि तृप्ति रूप इष्ट का साधन है किन्तु साथ ही वह मृत्यु रूप बलवान अनिष्ट का भी साधक है । इसलिये निषेध वाक्य से बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशिष्ट इष्टसाधनत्व के अभाव का बोध होने मे कोई बाधा नही हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योकि 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इस विधि वाक्य से श्येनयाग मे विधिप्रत्ययार्थ का बोध होता है, यदि विधिप्रत्यय का अर्थ बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टइष्टसाधनत्व को माना जायगा तो श्येनयाग मे शत्रुवधजन्य पाप द्वारा नरकरूप बलवान अनिष्ट की साधनता होने के कारण इस मे विधिप्रत्यय से विध्यर्थ का बोध न हो सकेगा। इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से यज्ञ मे उस पुरुष को विध्यर्थ का बोध न हो सकेगा जो यज्ञ के अनुष्ठान मे अवश्यभावी अल्प दुःख को भी बलवान समझ कर उससे द्वेष करता है।

इन सब बातो से यह निर्विवाद सिद्ध है कि विधिप्रत्यय का अर्थ आप्ताभिप्राय ही है अन्य कुछ नहीं । अतः उस अभिप्राय के आश्रय रूप मे ईश्वर की सिद्धि आवश्यक है ।

## (वेद गत इश्वर निरूपण से ईश्वर सिद्धि)

श्रुति का अर्थ है ईश्वरपरक वेद । इस से भी ईश्वर का अनुमान होता है। कहने का आशय यह है कि वेद मे ऐसे अनेक वचन प्राप्त होते है जिन मे ईश्वर का वर्णन होता है। ऐसे वचन यद्यपि विधिरूप नहीं होते क्योकि उन से किसी प्रकार के विधि या निषेध का उपदेश नहीं होता। जो विद्वान जैसे मीमांसकादि विधिनिषेध बोधक वाक्य को ही प्रमाण मानते हैं उन की दृष्टि मे भी ऐसे वचन जो विधि-निषेध रूप नहीं होते अपने अर्थ मे प्रमाण होते हैं, क्योकि उन वाक्यो की विधि वाक्यो के साथ एकवाक्यता होती है । अर्थात् विधिवाक्य और विधि से भिन्न विधि के अङ्गभूत वाक्य मिलकर एक अर्थ का प्रत्यायन करते हैं। जैसे 'विष्णु उपासीत' यह विधि वाक्य और यज्ञो वै विष्णुः' यह विधिभिन्न वाक्य दोनो 'यज्ञस्वरूपम् विष्णुमुपासीत' इस अर्थ का बोधक होता है । यह बोध तभी हो सकता है जब 'यज्ञो वै विष्णु' इस विधिभिन्न वाक्य को भी अपने अर्थ मे प्रमाण माना जाय । इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' यह विधिवाक्य और-'यन्न दुखेन संभिन्नं, न च ग्रस्तम् अनन्तरम्। अभिलाषोपनीत च तत्सुख स्व पदास्पदम्' ॥ यह विधिभिन्न वाक्य ये दोनों मिलकर इस अर्थ का बोधन करते हैं कि यज्ञ ऐसे स्वर्ग सुख का साधन है जो दुःख से मिश्र नहीं है, जिसे बाद मे भी दुःख से ग्रस्त होने की संभावना नहीं है और जो इच्छामात्र से ही प्राप्य है। यह बोध भी तभी सभव है जब

श्रुत्वैवं सकृदेनमीश्वरपरं सांख्याऽक्षपादागमं,
लोको विस्मयमातनोति न गिरो यावत् स्मरेदार्हतीः ।
किं तावद्बदरीफलेऽपि न मुहुर्माधुर्यमुन्नीयते,
यावत्पीनरसा रसाद् रसनया द्राक्षा न साक्षात्कृता ! ॥।॥३॥

* इत्थमभिहिता ईश्वरकर्तृत्वपूर्वपक्षवार्ता *

'यन्न दुःखेन सभिन्नं०' यह विधिभिन्न वाक्य अपने अर्थ मे प्रमाण है। इन उदाहरणो से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वेद के ऐसे वचन जो विधि-निषेधरूप न होते हुये भी ईश्वर का वर्णन करते हैं वे ईश्वर की सत्ता मे प्रमाण हैं। इस प्रकार श्रुति अर्थात् ईश्वर परक वेद से भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

## (प्रशंसापरक और निंदापरक वेदवाक्यो से ईश्वरसिद्धि)

वाक्य का अर्थ है वेद मे प्राप्त होने वाले प्रशसा और निन्दा का वाक्य। उन वाक्यों से भी ईश्वर का अनुमान होता है जैसे, वैदिक प्रशसा और निन्दा के वाक्य स्वार्थज्ञानपूर्वक है क्योकि वे वाक्य है, जो भी वाक्य होता है वह स्वार्थज्ञानपूर्वक होता है जैसे 'घटमानय पटमानय इत्यादि लौकिक वाक्य। कहने का आशय यह है कि किसी भी वाक्य का प्रयोग किसी विशेषअर्थ को बताने के लिये किया जाता है और वह विशेष अर्थ वही होता है जो वक्ता को ज्ञात हो और जिसे बताने मे प्रयुक्त होनेवाला वाक्य समर्थ हो। लोक मे सारे वाक्य इसी ढग के होते हैं। इसलिये वेद के प्रशसा-निन्दा वाक्य जिस की प्रशसा या निंदा का बोध कराने के लिये प्रयुक्त होते हैं–यह मानना आवश्यक है कि वक्ता को उन के गुण और दोष का ज्ञान रहता है। क्योकि वक्ता को जिस का गुण और दोष ज्ञात न होगा वह उस का प्रशसा या निन्दा के वाक्य का प्रयोग नहीं कर सकता। तो इस प्रकार जब यह सिद्ध है कि वैदिक प्रशसा और निन्दावाक्य भी स्वार्थज्ञानपूर्वक होते है तो उस ज्ञान के आश्रय रूप मे जीव को स्वीकार करना संभव न होने से ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

## (उत्तम पुरुषीय आख्यात प्रत्यय से ईश्वर सिद्धि)

सख्या का अर्थ है वेद मे प्राप्त होनेवाले उत्तमपुरुषीय तिङ्-आख्यात प्रत्यय से वाच्य सख्या। आशय यह है कि उत्तम पुरुषीय आख्यात अपने स्वतंत्र उच्चारण कर्ता की संख्या का बोधक होता है। जैसे चैत्र कहता है कि 'विद्यालय गमिष्यामि' इस वाक्य मे गम् धातु के उत्तर उत्तम पुरुष का एकवचन आख्यात जो मि' सुनाई देता है वह अपने स्वतंत्र उच्चारणकर्ता चैत्र की एकत्वसख्या का बोधक होता है। वेद मे भी 'स्याम्-अभूवम्-भविष्यामि' इस प्रकार उत्तम पुरुषीय आख्यात के प्रयोग प्राप्त होते हैं। अत उन आख्यात पदों से सख्या का अभिधान उपपन्न करने के लिये उन का भी कोई स्वतंत्र उच्चारणकर्ता मानना आवश्यक है जो ईश्वर से अन्य दूसरा नहीं हो सकता। इस प्रकार वेदस्थ उत्तमपुरुषीय आख्यात से वाच्य सख्या द्वारा ईश्वर का अनुमान होता है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है जैसे 'वेदस्य उत्तमपुरुषीय आख्यातपद बोध्य सख्या तादृशआख्यात के स्वतंत्रोच्चारणकर्तृ पुरुष गत है, उत्तम पुरुषीय आख्यातवाच्य सख्या होने से, जैसे लौकिक वाक्यस्थ उत्तम पुरुषीय आख्यात वाच्य सख्या'।

अथ समाधानवार्तामाह–

अन्ये त्वभिदधत्यत्र वीतरागस्य भावतः ।
इत्थं प्रयोजनाऽभावात् कर्तृत्वं युज्यते कथम् ? ॥ ४ ॥

अन्ये तु जैनाः, अत्र=ईश्वरविचारे, अभिदधति=परीक्षन्ते । किम् ? इत्याह वीतरागस्य=वैराग्यवतः ईश्वरस्य पातञ्जलैरभ्युपगतस्य, इत्थं प्रेरकत्वे, प्रयोजनाऽभावात्, भावतः=इच्छातः, कर्तृत्वं कथं युज्यते ? यो हि परप्रेरको दृष्टः स स्वप्रयोजनमिच्छन्निष्टः, ततोऽत्र व्यापिकायाः फलेच्छाया अभावाद् व्याप्यस्य परप्रेरकत्वस्याऽभा

एतदेव स्पष्टयन्नाह–

नरकादिफले कांश्चित्कांश्चित्स्वर्गादिसाधने ।
कर्मणि प्रेरयत्याशु स जन्तून् केन हेतुना ? ॥

ईश्वर की सिद्धि के विषय मे साख्ययोग और न्याय-वैशेषिक की उक्त युक्तियो के सम्बन्ध मे आलोचना करते हुए व्याख्याकार का कथन है कि मनुष्य जब तक ईश्वर के सम्बन्ध मे भगवान अर्हन् के वचन को नही समझता तब तक वह साख्य-योग न्याय-वैशेषिक शास्त्रो के ईश्वर विषयक प्रतिपादन को सुनकर यदि विस्मित और आनन्दित होता हे तो यह अत्यन्त स्वाभाविक है क्योकि जिस मनुष्य को रस से भरी द्राक्षा का रसास्वाद करने का अवसर जब तक प्राप्त नहीं होता तब तक वह बैर जैसे निकृष्ट फल की मधुरिमा की भी मुक्त कठ से प्रशसा करते नहीं थकता ।।३।।

## (वीतराग ईश्वर कर्त्ता नहीं हो सकता-उत्तरपक्षारम्भ)

चौथी कारिका मे ईश्वर को सिद्ध करनेवाली साख्ययोग सम्मत युक्ति का निराकरण किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-जैन विद्वानो का कहना है कि ईश्वर वीतराग होता है । साख्य योगदर्शन मे भी ईश्वर को वीतराग माना गया है, इसलिए वह जगत् कर्ता होना सगत नहीं हो सकता, क्योकि कर्तृत्व साक्षात् हो या दूसरे की प्रेरणा द्वारा हो, प्रयोजन की इच्छा होने पर ही समव होता है । अर्थात् जिसे किसी फल की इच्छा होती है वही साक्षात् या पर की प्रेरणा के द्वारा कर्ता होता है । वीतराग ईश्वर मे फलेच्छारूप व्यापक धर्म नहीं है इसलिए उस का व्याप्य होने से साक्षात् या परप्रेरणामूलक कर्तृत्व भी उसमे नहीं हो सकता ।

## (नरकादिफलक कृत्य मे ईश्वर प्रेरणा का अनौचित्य)

पाँचवी कारिका मे पूर्व कारिका मे कही हुई बात को ही स्पष्ट किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-ईश्वर कुछ जीवो को ब्रह्महत्या आदि ऐसे कार्यो मे प्रवृत्त करता है जिस से कर्ता को नरक की प्राप्ति होती है और कुछ जीवो को यम नियमादि कर्मो मे प्रवृत्त करता है जिस से कर्ता को स्वर्ग की प्राप्ति होती हैं । प्रश्न होता है-ईश्वर जीवो को इस प्रकार विभिन्न कर्मो मे क्यो प्रवृत्त करता है, इस प्रकार जीवो को प्रवृत्त करने मे उसका क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

स=ईश्वरः, कांश्चिज्जन्तून् नरकादिफले-ब्रह्महत्यादौ कर्मणि, कांश्चित् स्वर्गादिसाधने यम-नियमादौ वा, आशु=शीघ्रम्, केन हेतुना प्रेरयति? क्रीडादिप्रयोजनाभ्युपगमे रागद्वेषाभ्यां वैराग्यव्याहतिः, प्रयोजनाऽनभ्युपगमे च तन्मूलकप्रेरणाभावात् सिद्धान्तव्याघातः, इत्युभयतः-पाशा रज्जुरिति भावः ॥५॥

पराभिप्रायमाशङ्क्य निराकरोति-

स्वयमेव प्रवर्तन्ते सत्त्वाश्चेच्चित्रकर्मणि ।
निरर्थकमिहेशस्य कर्तृत्वं गीयते कथम्? ॥ ६ ॥

'सत्त्वाः, चित्रकर्मणि=ब्रह्महत्या-यम-नियमादौ, स्वयमेव=तमःसत्त्वोद्रेकेण तथाविधबुद्ध्यंशव्यापारवशेनैव, प्रवर्तन्ते=कर्तृत्वेनाऽभिमन्यन्ते, प्रयोजनज्ञानार्थं परमीश्वरापेक्षेति' चेत्? इह=कर्मणि, निरर्थकमीशस्य कर्तृत्वं कथं गीयते? प्रयोजनज्ञानं हि प्रवर्तनार्थमुपयुज्यते, प्रवृत्तिश्च यदि स्वत एवोपपन्ना, तदेश्वरसिद्धिव्यसनं गृहलब्ध एव धने विदेशगमनप्रायम्। ६॥

यदि यह कहा जाय 'विभिन्न जीवो को प्रवृत्त करना यह उस का खेल है। खेल खेलने के लिए ही वह विभिन्न कर्मो मे जीवो को प्रवृत्त करता है'-तो यह ठीक नहीं, क्योकि खेल से भी यदि मनुष्य को किसी प्रकार का सुख प्राप्त होता है तभी वह खेल भी खेलता है अन्यथा खेल से विरत हो जाता है। आशय यह है कि ईश्वर यदि किसी प्रकार के सुख की ईच्छा से खेल खेलता है तो उसे सुख और सुख के साधन के प्रति रागवान् मानना । यदि वह मनोविनोद के लिए अथवा यदि मानसिक कष्ट को दूर करने के लिए खेल खेलता है तो कष्ट और कष्ट के साधन के प्रति द्वेषवान् मानना पडेगा। फलतः ईश्वर को वीतराग कहना असम्भव हो जायगा। और यदि ईश्वर का खेल खेलने मे कोई प्रयोजन न माना जायगा तो जीवो को विभिन्न कर्मो मे प्रवृत्त करना यह उस का खेल नहीं घट सकता क्योकि 'पर का प्रवर्तन भी किसी प्रयोजन से ही होता है। फलत 'ईश्वर परका प्रेरक होकर कर्ता होता है' इस सिद्धान्त की हानि हो जायगी। उक्त रूप से विचार करने पर साख्य और अन्य वादी के लिए दोनो ओर से बाधने वाली रस्सी तैयार रहती हैं, अर्थात् उसे वीतराग माना जायगा तो वह पर का प्रेरक नहीं हो सकता और यदि पर का प्रेरक होगा तो वीतराग नहीं हो सकता। अत साख्य और अन्य वादी को ईश्वर के सम्बन्ध मे वीतरागता और पर-प्रेरकत्व इन दोनो मे किसी एक का त्याग करना आवश्यक है।

### (बुद्धिकर्तृत्वपक्ष मे भी ईश्वरकर्तृत्व निरर्थक)

छट्ठी कारिका मे ईश्वर के सम्बन्ध मे साख्ययोग के एक और आशय को प्रस्तुत कर उस का निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-जीव ब्रह्महत्या और यम नियमादि जैसे विभिन्न कर्मो मे स्वयं हि प्रवृत्त होते हैं। आशय यह है कि साख्यमतानुसार प्रवृत्त-निवृत्त होना पुरुष का काम नहीं है किन्तु उस की बुद्धि का काम है। बुद्धि त्रिगुणात्मिका होती है। बुद्धि के तीन गुण सत्त्व-रजस्-तमस कहे जाते हैं।

अभिप्रायान्तरमाशङ्क्य निराकुरुते-

**मूलम्-फलं ददाति चेत्सर्वं तत्तेनेह प्रचोदितम् ।**
**अफले पूर्वदोषः स्यात् सफले भक्तिमात्रता ॥ ७ ॥**

**सर्वं तत्**=चित्रं कर्म, **इह**=जगति, **तेन**=ईश्वरेण, **प्रचोदितम्**=अधिष्ठितं सत् , **फलं**= सुखदुःखादिकम् , **ददाति**=उपधत्ते, अचेतनस्य चेतनाधिष्ठितस्यैव कार्यजनकत्वादिति चेत् ? **अफले**=स्वतश्चित्रफलदानाऽसमर्थे कर्मण्यभ्युपगम्यमाने, **पूर्वदोषः**=पूर्वोक्तः स्वर्ग-नरकादि-फलाऽनियमदोषः स्यात् । **सफले**=स्वतश्चित्रफलदानसमर्थकर्मणि त्वभ्युपगम्यमाने, **भक्ति-मात्रता**=ईश्वरे भक्तिमात्रं स्यात् , हरीतकीरेकन्यायात् । 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव जनकमि'ति नियमस्त्वतादृशस्यापि वनबीजस्याऽङ्कुरजननत्वदर्शनादसिद्धः, तस्यापि पक्षतायाम् , अन्य-त्रापि व्यभिचारिणः पक्षतायां निवेशेऽनैकान्तिकोच्छेदप्रसङ्गादिति भावः ॥७॥

---

जब बुद्धि के सत्त्व गुण का उत्कर्ष होता है तब उसे दया भक्ति-वैराग्यादि प्रशस्त सात्त्विक भाव जाग्रत होकर सत् कर्तव्यो को करने का सकल्प होता है और उन के अनुसार रजोगुण के सहकार से वह सत्कर्म करती है। जब बुद्धि के रजोगुण का उद्रेक होता है तब सत्त्व या तमो गुण से प्ररित हो सत् या असत् कर्मो करने का सकल्प होता है और उन के अनुसार वह सत् या असत् कर्मो को करतो हे। जब बुद्धि के तमोगुण का आधिक्य होता है तब उस मे प्रवल राग द्वेष ईर्ष्या निर्दयतादि तामस भावो का प्राकट्य होता है। बुद्धि के इस कर्तृत्व का पुरुष को केवल अभिमान होता है और वह इसलिए होता है कि पुरुष अपने को बुद्धि से पृथक् नही समझता। विभिन्न कर्मो मे पुरुष को स्वतः कर्तृत्व का अभिमान प्रवृत्त होता है। बुद्धि के विभिन्न कर्मो मे बुद्धि की प्रवृत्ति के लिए भ। प्रयोजन का ज्ञान अपेक्षित होता है जो ईश्वर के सनिधान से ही सभव हे अर्थात् ईश्वर बुद्धि को तद् तद् कर्मो के प्रयोजन का ज्ञान सपादित करता है और उसी से बुद्धि तत् तत् कर्मो मे प्रवृत्त होती हे। ईश्वर को परप्रेरक मानने मे योगदर्शन का यह अभिप्राय है। किन्तु इस सवन्ध मे ग्रन्थकार की यह आलोचना है-त्रिगुणात्मिका बुद्धि स्वभाव से ही प्रवृत्तिशील हे। अतः उस के प्रवर्तन के लिए प्रयोजन ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है और यदि है तो वह भी बुद्धि को स्वय ही सपन्न हो सकता है। अत उस के लिए ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास ठीक उसी प्रकार निरर्थक है जैसे घर मे ही धन की प्राप्ति संभव रहने पर धन कमाने के लिए विदेश की यात्रा निरर्थक होती है।

### (कर्म की ईश्वराधीनता का निरसन)

७ वीं कारिका मे योग दर्शन के एक और अभिप्राय की चर्चा कर के उस का निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

सभी कर्म ईश्वर की प्रेरणा से ही फलप्रद होता है क्योकि अचेतन मे चेतन के सयोग से ही कार्य-जनकता होती हे। अत कर्म की सफलता उपपन्न करने के लिए ईश्वर का अस्तित्व आवश्यक हे। इस अभिप्राय के सम्बन्ध मे ग्रन्थकार की यह समीक्षा है कि यदि विभिन्न कर्म विभिन्न फलो को प्रदान करने मे स्वय समर्थ न हो तो ईश्वर का अस्तित्व मानने पर भी उन कर्मो से स्वर्ग नरकादि विभिन्न

आदिसर्गे तस्यैव स्वातन्त्र्यमित्याशङ्क्य निराकुरुते—

आदिसर्गेऽपि नो हेतुः कृतकृत्यस्य विद्यते ।
प्रतिज्ञातविरोधित्वात् स्वभावोऽप्यप्रमाणकः ॥ ८ ॥

आदिसर्गेऽपि कृतकृत्यस्य=वीतरागस्य, हेतुः=प्रयोजनम् , न विद्यते, ततः कथमादिसर्गमप्ययं कुर्यात् ? । अथेदृशः स्वभाव एवाऽस्य, यत्प्रयोजनाऽभावेऽप्यादिसर्गं स्वातन्त्र्येणैव करोति, अन्यदा त्वदृष्टाद्यपेक्षयैवेति । अत आह-'स्वभावोऽपि' प्रागुक्तः 'अप्रमाणकः,' धर्मिण एव चाऽसिद्धौ कुत्र तादृशः स्वभावः कल्पनीयः ? इति भावः ॥८॥

फलो की सिद्धि न होगी । क्योंकि यदि कर्मों मे स्वय तद् तद् फलप्रदान करने का सामर्थ्य न होगा तो ईश्वर का अस्तित्व दोनो प्रकार के कर्मों के लिये समान होने से यह नियम नहीं हो सकता कि ब्रह्महत्यादि से नर्क ही हो और यमनियमादि से स्वर्ग हो । और यदि इस दोष के परिहारार्थ उन कर्मों को तद् तद् फलो का प्रदान करने मे स्वय समर्थ माना जायगा तो फिर ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता होगी ? क्योंकि कर्म तो स्वयं ही तद् तद् फलो को प्रदान कर देते हैं । अतः उस पक्ष मे भी ईश्वर को कर्म का सहकारी मानना ईश्वर के प्रति भक्त की भक्ति का अज्ञानपूर्वक प्रदर्शन मात्र है । यह ठीक उसी प्रकार जैसे किसी मनुष्य को स्वय रेच होने पर हरितकी के सेवन की प्रवृत्ति । और यह जो बात कही गई कि अचेतन चेतन के सहयोग से ही कार्य का जनक होता है वह भी सार्वत्रिक नहीं है, क्योंकि चेतन सहायक के बिना भी वनस्थ बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है । यदि यह कहा जाय-'वनस्थ बीज भी पक्ष कोटि मे ही प्रविष्ट है अर्थात् जैसे कर्म की फलप्रदता को उपपन्न करने के लिये कर्म को सहकारी ईश्वर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वनस्थ बीज में अंकुरजनकता की उत्पत्ति के लिये भी वनस्थबीज के सहकारीरूप मे ईश्वर की कल्पना की जायगी' । -किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जगत् मे अनैकान्तिक दोष का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा अर्थात् कोई भी हेतु कहीं भी साध्य का व्यभिचारी न हो सकेगा क्योंकि जहा भी हेतु मे साध्य का व्यभिचार प्रदर्शित होगा-उस का पक्ष मे अन्तर्भाव किया जा सकता है ।।७।

## (वीतराग ईश्वर को विश्वरचना मे प्रयोजनाभाव)

आठवीं कारिका मे ईश्वर प्रथमसृष्टि का स्वतत्र कर्ता है इस मत का निराकरण किया गया है । ईश्वर के कर्तृत्व का समर्थन करनेवाले कुछ लोगो की यह मान्यता है कि जो सृष्टि जीव के कर्मो से सपन्न होती है वह तो ईश्वर के बिना जीव के कर्मो से ही उपपन्न हो जायगी किन्तु पहली सृष्टि जिस के पूर्व जीवकर्म विद्यमान नहीं है उस की उपपत्ति ईश्वर से ही हो सकती है । किन्तु यह मानना युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता क्योंकि ईश्वर वीतराग है उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है तो वह सृष्टि को उत्पन्न ही क्यों करेगा ? अत सृष्टि के सम्बन्ध मे भी यही मानना होगा कोई सृष्टि प्रथम सृष्टि नहीं है बल्कि सृष्टि का प्रवाह अनादि है । पूर्व मे ऐसा कोई काल नहीं था जिस में यह सृष्टि न रही हो । यदि ऐसा न माना जायगा तो सृष्टि का अस्तित्व रहना किसी भी प्रकार संभव न हो सकेगा ।

विश्वहेतुतया धर्मिग्राहकमानेन तादृशस्वभाव एव भगवान् साध्यते, इत्यभिप्रायादाह—

मूलम्- कर्मादेस्तत्स्वभावत्वे न किञ्चिद् बाध्यते विभोः ।
विभोस्तु तत्स्वभावत्वे कृतकृत्यत्वबाधनम् ॥ ९ ॥

कर्मादेस्तत्स्वभावत्वे=ईश्वरमनपेक्ष्य जगज्जननस्वभावत्वे, न किञ्चिद् विभोः=परमेश्वरस्य, बाध्यते । विभोस्तु तत्स्वभावत्वे=स्वातन्त्र्येण अन्यहेतुसापेक्षतया वा जगज्जननस्वभावत्वे, कृतकृत्यत्वबाधनम् वीतरागत्वव्याहतेः, कारणतया प्रकृतित्वप्रसङ्गाच्च । अथ परिणामित्वाभावाद् न प्रकृतित्वम् , प्रयोजनाभावेन जन्येच्छाया अभावेऽपि नित्येच्छासत्त्वाद् न वैराग्यव्याहतिः, जन्येच्छाया एव रागपदार्थत्वात् । ऐश्वर्यमपि न जन्यम् , किन्तु तत्तत्फलावच्छिन्नेच्छैव । सर्गादौ रजःप्रभृत्युद्रेकोऽपि तत्र तत्कार्यकारितयैव गीयत इति न कूटस्थत्वहानिरिति चेत् ?

जल्पता गिरिशसाधने गिरं न्यायदर्शननिवेशपेशलाम् ।
सांख्य ! संप्रति निजं कुलं त्वया हन्त ! हन्त ? सकलं कलङ्कितम् ॥१॥

यत एवं कार्यजनकज्ञानादिसिद्धौ तदाश्रयतया बुद्धिरेव नित्या सिध्येत् , न त्वीश्वरः, बुद्धित्वस्यैव ज्ञानाद्याश्रयतावच्छेदकत्वात् । आत्मत्वस्य तदाश्रयतावच्छेदकत्वे तु जन्यज्ञानादीनामप्यात्माश्रिततया विलीनं प्रकृत्यादिप्रक्रियया इति किमङ्गेन सह विचारप्रपञ्चेन ? ।

---

यदि यह कहा जाय-'नहीं, सृष्टि अपूर्व भी होती है जिसे प्रथम सृष्टि कहा जा सकता है । और उसे किसी प्रयोजन के विना भी परमेश्वर अपने स्वभाव से ही उत्पन्न करता है । किन्तु जब पहले सृष्टि हो जाती है और उस मे जीव शुभाशुभ कर्म करने लगते हैं तब उस के बाद की सृष्टि उन कर्मो के अनुसार होती है । अर्थात् बाद की सृष्टि को ईश्वर कर्मानुसार सपन्न करता है'-यह कहना भी ठीक नही है क्योंकि यदि ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध हो जाय तब उस मे विना प्रयोजन के भी निर्माण करने के स्वभावरूप धर्म की कल्पना की जा सकती है किन्तु जब तक वह स्वय ही सिद्ध नहीं है तो उस मे स्वभाव की कल्पना कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय-'प्रथम सृष्टि के कर्ता रूप मे ईश्वर का अनुमान होता है और प्रथम सृष्टि का कर्तृत्व ईश्वर का उक्त स्वभाव मानने पर ही सभव है अत आद्यसृष्टि मूलक जिस अनुमान से ईश्वररूप धर्मीकी सिद्धि होगी उसी प्रमाण से उक्त स्वभावविशिष्ट ही ईश्वर को सिद्धि होगी । अतः यह आवश्यक नहीं है कि ईश्वररूपधर्मी को पहले सिद्ध किया जाय और बाद मे उस मे उक्त स्वभावरूप धर्म की कल्पना की जाय ।'-किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि आद्य सृष्टि मे ही कोई प्रमाण नहीं है ।

(निष्प्रयोजन चेष्टा से वीतरागता की हानि)

९ वीं कारिका मे इस अभिप्राय की चर्चा और उसकी आलोचना की गई है-विश्व के कर्ता रूप मे जिस अनुमानप्रमाण से ईश्वररूप धर्मी की सिद्धि होगी उस प्रमाण से प्रयोजन विना

भी कार्य करने का उस का स्वभाव भी सिद्ध होगा। 'कारिका का अर्थ इस प्रकार है-कर्म ईश्वर की अपेक्षा न कर के स्वय ही जगत् का कारण होता है-कर्म का ऐसा स्वभाव मानने पर ईश्वर के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। किन्तु ईश्वर स्वतन्त्ररूप से अथवा किसी अन्य हेतु के सहयोग से जगत् का निर्माण करता है-ईश्वर का ऐसा स्वभाव मानने पर उन की कृतकृत्यता अर्थात् पूर्णता की बाधा होती है। क्योकि उसे कर्ता मानने पर उस के वीतरागत्वकी हानि होती है और उसे जगत् का कारण मानने पर उस मे प्रकृतिरूपता की आपत्ति होती है। क्योंकि सांख्ययोग-दर्शन मे प्रकृति को ही जगत् का कारण माना गया है । इस आपत्ति को इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योकि ईश्वर जब प्रकृतिरूप होगा तो उसे सविकार होना पडेगा।

इस सन्दर्भ मे सांख्ययोग की ओर से यह कहा जा सकता है कि ईश्वर को जगत का कर्ता मानने मे उपर्युक्त दोषो मे कोई भी दोष नहीं हो सकता। जैसे ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने पर भी उस मे प्रकृतिरूपता की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योकि परिणामी कारण को ही प्रकृति कहा जाता है। ईश्वर जगत् का परिणामी कारण न होने से प्रकृतिरूप नहीं है। ईश्वर को जगत्कर्ता मानने पर उस की वीतरागता का विघटन नहीं हो सकता, क्योकि जन्य इच्छा को ही राग कहा जाता है। और ईश्वर को कोई प्रयोजन न होने से उस मे जन्य इच्छा नहीं हो सकती। नित्य इच्छा होने पर भी उस की वीतरागता सुरक्षित रह सकती है क्योंकि जन्य इच्छा के अभाव को ही वीतरागता कहा जाता है। उस का ऐश्वर्य भी जन्य नहीं हो सकता क्योकि वह तद् तद् फलविषयक नित्य इच्छारूप ही है। सृष्टि के आरम्भ मे रजोगुण का उत्कर्ष होता है-इस कथन मे ईश्वर मे सगुणता की भी आशंका नहीं की जा सकती क्योकि समयानुसार उत्कृष्ट और अपकृष्ट होना यह गुणो का अपना ही स्वभाव है। ईश्वर की इच्छा गुणों के यथा समय होने वाले उत्कर्ष और अपकर्ष को विषय करती है। इसी से ईश्वर 'गुणो मे वैषम्य का उत्पादक' कहा जाता है। अत ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने पर उस की कूटस्थता अर्थात् निर्विकारता की हानि नहीं हो सकती'-किन्तु व्याख्याकार का कहना है कि यह कथन ठीक नहीं है। इस कथन पर उन्होंने यह कहते हुए सांख्य की भर्त्सना की है कि ईश्वर को सिद्ध करने के लिये जो बात अभी कही गई है वह न्यायदर्शन की मान्यता पर आधारित होने से समीचीन प्रतीत होती है। किन्तु उसे अपनी मान्यता के रूप मे यदि सांख्यवादी स्वीकार करते है तो इस से उन की पुरी परम्परा ही कलङ्कित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि—

## (सांख्यमत में ज्ञानादि का आश्रय ईश्वर नहीं हो सकता)

उक्त रीति से ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास सार्थक भी नहीं हो सकता क्योकि उक्त रीति से कार्य सामान्य के कारण रूप से ज्ञान इच्छा और प्रयत्न की सिद्धि होती है। ईश्वर को उक्त ज्ञान आदि के आश्रयरूप मे अङ्गीकार करना होता है जो सांख्य की दृष्टि से उचित नहीं है। क्योकि उनके मत मे ज्ञान आदि का आश्रय बुद्धि ही होती है ईश्वर नहीं होता। उस मत मे बुद्धित्व ही ज्ञान आदि की आश्रयता का नियामक होता है । और यदि आत्मत्व को ज्ञान आदि की आश्रयता का नियामक माना जायगा तो जैसे कार्य सामान्य का कारणभूत नित्य ज्ञान आदि आत्माश्रित होगा इसी प्रकार जन्यज्ञान आदि भी आत्माश्रित ही होगा । इस प्रकार न्यायदर्शन के समान जीव और ईश्वर की पटार्थय प्रवृत्ति के प्रति पटादि के उपादान का तद् तद् पुरुषीय प्रत्यक्ष कारण है। फलत तद् तद् कार्यार्थी की प्रवृत्ति और तद् तद् कार्य के उपादान का प्रत्यक्ष इन्हीं के बीच कार्यकारणभाव आवश्यक

नैयायिकोक्तरीत्यापि नेश्वरसिद्धिः । तथाहि–कार्येण तत्साधने आद्यानुमाने नाऽनुकूलस्तर्कः, तत्तत्पुरुषीयपटाद्यर्थिप्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्पुरुषीयपटादिमत्त्वप्रकारकोपादानप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वावश्यकत्वात्, प्रत्यक्षत्वेन कार्यसामान्यहेतुत्वे मानाभावात्, चिकीर्षाया अपि प्रवृत्तावेव हेतुत्वात्, कृतेरपि विलक्षणकृतित्वेनैव घटत्व-पटत्वाद्यवच्छिन्नहेतुत्वात् ।

मान्यता सांख्य शास्त्र मे भी आ जायगी । फलत: त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत् का मूल कारण है और उस से उत्पन्न बुद्धि ही ज्ञानादि गुणो का आश्रय और कर्ता है–यह सब सांख्य दर्शन की मान्यता समाप्त हो जायगी । तो इस प्रकार जो सांख्यशास्त्र की मान्यता का अनभिज्ञ होते हुए सांख्य की ओर से विचार करने को उद्यत होता है उसके साथ विचार करना अनुचित है । इसलिये इस चर्चा को इतने मे ही समाप्त कर देना ठीक है, क्योंकि इतने से ही ईश्वर के सम्बन्ध मे सांख्ययोग द्वारा प्रदर्शित युक्तियां निरर्थक सिद्ध हो जाती है ।

(कार्यसामान्य के प्रति उपादानप्रत्यक्ष कारणता की आलोचना)

नैयायिको ने ईश्वर को सिद्ध करने की जो रीत बताई है उस से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती–जैसे उन्हो ने कार्य द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने के लिये सर्व प्रथम इस अनुमान का प्रयोग किया है 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्'–संपूर्ण कार्य कर्तृसापेक्ष है क्योकि कार्य है ।' किन्तु यह अनुमान समीचीन नहीं हो सकता क्योंकि-जो भी कार्य होता है वह सभी कर्तृसापेक्ष होता है इस नियम का निश्चायक कोई तर्क नहीं है । कहने का आशय यह है कि कार्यसामान्य के प्रति सामान्यरूप से उपादान विषयक प्रत्यक्ष कारण है इस कार्यकारण भाव पर ही उक्त अनुमान निर्भर है किन्तु इस कार्यकारण भाव मे कोई प्रमाण नही है । क्योकि इस कार्यकारणभाव को मानने पर भी यह प्रश्न होता है कि पट-उपादान के प्रत्यक्ष से घटार्थीकी और घटोपादान के प्रत्यक्ष से पटार्थी की प्रवृत्ति क्यो नहीं होती ? क्योकि जब सामान्यरूप से उपादान का प्रत्यक्ष सामान्यरूप से कार्य मात्र का कारण है तो किसी भी उपादान के प्रत्यक्ष से किसी भी कार्य की उत्पत्ति होना युक्तिसङ्गत है । अत इस प्रश्न का समाधान करने के लिये इस प्रकार का विशेष कार्यकारणभाव मानना होगा कि तत् तत् पुरुष की पटाद्यर्थ प्रवृत्ति के प्रति पटादि के उपादान का तद् तद् पुरुषीय प्रत्यक्ष कारण है । फलत. तत् तत् कार्यार्थी की प्रवृत्ति और तद् तद् कार्य के उपादान का प्रत्यक्ष इन्हीं के बीच कार्यकारणभाव आवश्यक है । इसी से उपादान प्रत्यक्ष के अभाव मे कार्योत्पत्ति की आपत्ति का परिहार हो जायगा अत 'कार्य सामान्य के प्रति उपादानप्रत्यक्ष कारण है' इस सामान्य कार्यकारणभाव की कोई आवश्यकता न रहेगी । तो जब इस प्रकार–कार्य सामान्य के प्रति उपादानप्रत्यक्ष या उस प्रत्यक्ष का आश्रयभूत कर्ता कारण है यह कार्यकारणभाव ही असिद्ध है तो कार्य सामान्य से कर्तृ सामान्य का अनुमान कैसे हो सकेगा ?

(कृति और कार्य का भी सामान्यतः कार्य-कारण भाव नही है)

जिस प्रकार उपादान का प्रत्यक्ष उपर्युक्त रीति से प्रवृत्ति का ही कारण है उसी प्रकार चिकीर्षा भी प्रवृत्ति का ही कारण है, कार्य सामान्य का कारण नही है। और कृतित्व रूप से कृति भी कार्यत्व रूप से कार्य सामान्य का कारण नहीं है किन्तु घटपटादि तद् तद् कार्य के प्रति कुलाल तन्तुवाय

न च प्रवृत्ताविव घटादावपि ज्ञानेच्छयोरन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वसिद्धेः तत्र घटत्व-पटत्वादीनामानन्त्यात् कार्यत्वमेव साधारण्यात् कार्यतावच्छेदकम् , शरीरलाघवमपेक्ष्य सग्राहकलाघवस्य न्याय्यत्वात् , कृतेस्तु 'यद्विशेषयोः'० इति न्यायात् सामान्यतोऽपि हेतुत्वमिति वाच्यम्,

आदि की कृति विलक्षण कृतित्व रूप से ही कारण है। कहने का आशय यह है कि कार्य सामान्य के प्रति कृति सामान्य को कारण मानने में घट के लिये होनेवाली कृति से पट की और पट के लिये होनेवाली कृति से घट की उत्पत्ति होने की आपत्ति हो सकती है। अत जिन कृतियों से घट उत्पन्न होता है उन में विलक्षण जाति और जिन कृतियों से पट उत्पन्न होता है उस में दूसरी विलक्षण जाति मानकर-घट पट आदि कार्यों के प्रति भिन्न भिन्न विजातीय कृतियां कारण हैं-यह कार्य-कारणभाव मानना आवश्यक है। और इस कार्यकारणभाव को मान लेने पर कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य को कारण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिये कार्यसामान्य से उपादान-प्रत्यक्ष या चिकीर्षा अथवा कृति का अनुमान नहीं हो सकता। और इसीलिये कार्य सामान्य के कारणभूत उपादानप्रत्यक्ष, चिकीर्षा और कृति के आश्रयरूप से जगत् कर्ता ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

## [व्यापकरूप से कारणता की सिद्धि का प्रयास-पूर्वपक्ष]

इस सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि—

जैसे उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा रहने पर प्रवृत्ति होती है और उस के न रहने पर प्रवृत्ति नहीं होती है-इन अन्वय व्यतिरेक से उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा को प्रवृत्ति का कारण माना जाता है उसी प्रकार उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा के अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान घटादि में भी है, इसलिये घटपटादि के प्रति उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा को कारण मानना आवश्यक है। तो इस प्रकार जब प्रवृत्ति के समान अन्य कार्यों के प्रति उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा की कारणता सिद्ध होती है तब घटत्व पटत्व आदि अनन्त धर्मावच्छिन्न के प्रति उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा को कारण मानने की अपेक्षा कार्यत्व रूप सामान्य धर्मावच्छिन्न के प्रति उन्हें कारण मानना उचित है।

यदि यह कहा जाय कि-'घटत्व पटत्वादि की अपेक्षा प्रागभावप्रतियोगित्वरूप कार्यत्व का शरीर गुरु है अत उस की अपेक्षा लघुशरीरी घटत्व पटत्वादि को ही उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा का कार्यतावच्छेदक होना उचित है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटत्व पटत्वादि धर्म सम्पूर्ण कार्यों का सङ्ग्राहक नहीं है और कार्यत्व सम्पूर्ण कार्यों का सग्राहक है। इसलिये उसी को उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा का कार्यतावच्छेदक मानना न्यायसङ्गत है क्योंकि उसे कार्यतावच्छेदक मानने पर कार्य सामान्य के प्रति उपादान प्रत्यक्षादि में एक एक कारणता की ही सिद्धि होगी और घटत्व पटत्व आदि धर्मों को कारणतावच्छेदक मानने पर तद् तद् धर्मावच्छिन्न के प्रति विजातीय उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा में अनन्त कारणता माननी पड़ेगी। तो इस प्रकार जब कार्यसामान्य के प्रति उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा की कारणता सिद्ध हो जाती है तो कार्यसामान्य से कार्य सामान्य के उपादान प्रत्यक्ष और चिकीर्षा का अनुमान होने मे और उस के आश्रय रूप मे ईश्वर का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। इसी प्रकार घटपटादि कार्यों के प्रति पृथक् रूप से विजातीय कृतियों को कारण मानने पर भी-कार्य सामान्य के प्रति कृतिसामान्य कारण है-यह सामान्य कार्यकारण भाव

कार्यत्वस्य कालिकेन घटत्व-पटत्वादिमत्स्वरूपस्य नानात्वात्, ध्वंसव्यावृत्त्यर्थं देयस्य सत्त्वस्य विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेणाऽतिगुरुत्वाच्च। न च द्रव्यजन्यतावच्छेदकतया सिद्धं जन्यसत्त्वम् अवच्छिन्नसमवेतत्वं वा तज्जन्यतावच्छेदकम्, तथापि प्रत्येकं विनिगमनाविरहात्, 'यद्विशेषयोः'० इति न्याये मानाभावात्। किञ्च, एवं प्रायोगिकत्वमेव शैलादिव्यावृत्तं देवकुलाद्यनुवृत्तं सकलजनव्यवहारसिद्धं प्रयत्नजन्यतावच्छेदकमस्तु, व्याप्यधर्मत्वात्, इदमेवाऽभिप्रेत्य हेतुविशेषविकल्पने कार्यसमत्वं सम्मतिटीकाकृता निरस्तम्।

---

भी सिद्ध होगा क्योकि-'यद्विशेषयो कार्यकारणभावः स तत्सामान्ययोरपि' यह सर्वमान्य नियम है। इस का आशय यह है कि जिन पदार्थो मे विशेषरूप से कार्यकारणभाव होता है उन पदार्थो मे सामान्यरूप से भी कार्यकारणभाव होता है। जैसे एक घट को उत्पन्न करनेवाले कपाल से अन्य घट की उत्पत्ति का वारण करने के लिये तद् तद् घट के प्रति तद् तद् कपाल को कारण मानने पर-घट सामान्य प्रति कपालसामान्य कारण है-यह भी कार्यकारणभाव माना जाता है, उसी प्रकार कार्यविशेष और कृतिविशेष मे कार्यकारणभाव मानने पर कार्यसामान्य और कृतिसामान्य मे भी कार्यकारणभाव मानना न्यायसङ्गत है।

यदि यह कहा जाय कि-'विशेष कार्यकारणभाव से ही कार्य सिद्ध हो जाने से सामान्यरूप से कार्यकारणभाव की कल्पना कहीं भी मान्य नहीं है। अतः 'यद्विशेषयो कार्यकारणभाव. स तत्सामान्ययोरपि' यह नियम निर्युक्तिक है।-' तो यह ठीक नहीं है। क्योकि जहा कोई कपाल नहीं है वहा यदि यह प्रश्न हो कि ऐसे स्थल मे घट की उत्पत्ति क्यो नही होती ? तो इस का उत्तर यह नहीं दिया जा सकता कि तद् तद् कपाल का अभाव होने से घट की उत्पत्ति नही होती है, क्योकि तत्कपाल के अभाव मे भी अन्य कपाल से घट की उत्पत्ति होती है। अत तद् तद् कपाल का अभाव तद् तद् घट की ही अनुत्पत्ति का नियामक नही हो सकता है। अतः घटसामान्य की अनुत्पत्ति का नियामक कपालसामान्य के अभाव को ही मानना होगा और यह तभी सभव है जब घट और कपाल मे सामान्यरूप से भी कार्यकारणभाव हो। उसी प्रकार जहा कोई कृति नही है वहा कार्यसामान्य की अनुत्पत्ति का नियामक कृतिसामान्य का अभाव है-इस बातकी उपपत्ति के लिये कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य को भी कारण मानना आवश्यक है। तो इस प्रकार जब कार्य सामान्य के प्रति कृतिसामान्य की कारणता युक्तिसिद्ध है तब उसके बलसे 'कार्यं सकर्तृक कार्यत्वात्' यह अनुमान निर्बाध रूप से सपन्न हो सकता है"।-

(व्यापक रूप से कारणता की सिद्धि का असम्भव-उत्तरपक्ष)

किन्तु यह कथन विचार करने पर समीचीन नहीं प्रतीत होता हे क्योकि कार्यत्व भी जो सपूर्ण कार्योका सग्राहक है एकधर्म रूप न होकर कालिक सम्बन्ध से घटत्व पटत्वादि रूप है। आशय यह है कि कार्यत्व को सकल कार्यो मे एक अनुगतधर्म के रूप मे तभी स्वीकार किया जा सकता है जब सपूर्ण कार्यो का अनुगम करने का कोई मार्ग न रहे किन्तु ऐसे मार्ग का अभाव नहीं है, क्योकि कालिक सम्बन्ध से घटत्व सभी कार्यो मे रहने से समस्त कार्यो का अनुगमक हो सकता है, अत कालिकसम्बन्ध से घटत्व-पटत्वादि से भिन्न कार्यत्व नामक एक अतिरिक्त धर्म की सत्ता मे कोई प्रमाण नहीं है।

(सामान्यकार्यकारणभावकल्पना मे गौरव)

फलत॰ 'कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य कारण है' इस नियम का पर्यवसान 'कालिक सम्बन्धसे घटत्वादिमत् के प्रति कृतिसामान्य कारण है'-इस कार्यकारणभाव मे होगा। और यह कार्यकारणभाव घटत्वपटत्वादि कार्यतावच्छेदक के भेद से अनन्त होगा। अतः-'घटपटादि तद् तद् कार्यो के प्रति पृथक् रूप से विजातीय कृति कारण है'-इस कार्यकारणभाव से अतिरिक्त उक्त रूप से 'कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य कारण है' इस कार्यकारणभाव की कल्पना गौरवग्रस्त है। इसके अतिरिक्त कार्य-कारण भाव मे गौरव का अन्य हेतु भी है जैसे कालिक सम्बन्ध से घटत्व पटत्वादि धर्म भावभूत वस्तु मे रहता है इसी प्रकार ध्वस मे भी रहता है और ध्वस के प्रति उपादान प्रत्यक्षादि कारण नहीं होते क्योकि उसका कोई उपादान ही नहीं होता। अतः ध्वसरूप कार्य के प्रति उपादानप्रत्यक्षादि कारणो का व्यभिचार वारण करने के लिये ध्वस को उन के कार्यवर्ग से व्यावृत्त करने के लिये कार्यतावच्छेदककोटि मे सत्त्व-भावत्व का निवेश करना होगा। फलत भावत्व और घटत्व आदि के विशेषणविशेष्यभाव मे कोई विनिगमना न होने से 'घटत्वादि-विशिष्टभाव प्रति उपादानप्रत्यक्षादिक कारण' एव 'भावत्वविशिष्टघटादिक प्रति उपादानप्रत्य-क्षादिक कारण' इस प्रकार से गुरुतर कार्यकारणभाव की आपत्ति होगी।

(जन्यत्व अथवा अवच्छिन्नत्व का निवेश व्यर्थ है)

यदि यह कहा जाय कि- भावकार्य की उत्पत्ति द्रव्य मे ही होती है गुणादि मे नहीं होती इसलिए जन्यभाव के प्रति द्रव्य कारण है यह कार्यकारणभाव मानना आवश्यक होता है। इसके अनुसार जन्यसत्त्व द्रव्य का कार्यतावच्छेदक होता है। जन्यसत्त्व का अर्थ है जन्यत्वविशिष्टसत्त्व। इस मे जन्यत्व का निवेश नित्य भावपदार्थों की व्यावृत्ति के लिए किया जाता है और सत्त्व का निवेश ध्वस की व्यावृत्ति के लिए किया जाता है। नित्य भावपदार्थों की व्यावृत्ति के लिए जन्यत्व के बदले अवच्छिन्नत्व का भी निवेश किया जा सकता है। अवच्छिन्नत्व का अर्थ है कालावच्छिन्नत्व अर्थात् किञ्चित्कालवृत्तित्व। इस प्रकार द्रव्य का जन्यतावच्छेदक जन्यसत्त्व या किञ्चिद्कालवृत्ति समवेतत्व होता है। उसी को उपादान प्रत्यक्ष चिकीर्षा और कृति का कार्यतावच्छेदक मान कर जन्यभाव सामान्यके प्रति उपादान प्रत्यक्ष आदि को कारण माना जा सकता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जन्यत्व के सबन्ध मे यह बात पूर्ववत् कही जा सकती है कि जन्यत्व अतिरिक्त धर्म न होकर विनिगमना विरह से कालिकसबन्धेन घटत्व-पटत्व आदिरूप ही है। इसीप्रकार अवच्छिन्नत्व के सबध मे भी कहा जा सकता है कि अवच्छिन्नत्व विनिगमनाविरह से तद् तद् घटादिरूप जो तत् तत् काल तन्निरूपितवृत्तित्व रूप है इसलिए पूर्वोक्त दोष से निस्तार अशक्य है।।

(सामान्याभाव विशेषाभावकूट से अन्य नहीं है)

इस सन्दर्भ मे 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभाव' स तत्सामान्ययोरपि' इस न्याय से कार्यसामान्य और कृतिसामान्य मे कार्यकारणभाव सिद्ध करने का जो प्रयास किया गया है वह भी सफल नहीं हो सकता क्योकि उस न्याय मे कोई प्रमाण नहीं है। उस न्याय के समर्थन मे जो यह बात कही गई है कि 'जिस स्थान मे कोई कपाल नहीं है उस स्थान मे कपालसामान्य भाव को घट सामान्य की अनुत्पत्ति का नियामक सिद्ध करने के लिए एवं जब कोई कृति नहीं है उस समय कृतिसामान्याभाव को कार्यसामान्य की अनुत्पत्ति का नियामक सिद्ध करने के लिए 'घट सामान्य के प्रति कपालसामान्य

यत्तु घटत्वाद्यवच्छिन्ने कृतित्वेन हेतुत्वेऽपि खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरसत्त्वादीश्वरसिद्धिः, इति दीधितिकृतोक्तम्, तत्तुच्छम्, अस्माभिस्तत्र घटे खण्डत्वपर्यायस्यैवाऽभ्युपगमात्। युक्तं चैतद्, प्रत्यभिज्ञोपपत्तेः। तत्र सादृश्यादिदोषेण भ्रमकल्पने गौरवात्।

और कार्यसामान्य के प्रति कृतिसामान्य कारण है'-यह कार्यकारणभाव मानना आवश्यक है'-वह ठीक नहीं है क्योंकि विशेषाभावकूट से ही सामान्याभाव की प्रतीति आदि उपपन्न हो जाने से विशेषाभावकूट से भिन्न सामान्याभाव की कल्पना मे कोई प्रमाण नहीं हैं। अतः जहाँ कोई कपाल नहीं हे वहाँ घट सामान्य की अनुत्पत्ति का प्रयोजक तत्तत्कपालाभावसमुदाय ही हे। एव जहाँ कोई कृति नहीं है तब उस समय कार्यसामान्य की अनुत्पत्ति का प्रयोजक तत् तत् कृति का अभावसमुदाय ही हे यही मानना युक्ति सगत हैं। अत. 'यद्विशेषयो.'० न्याय मे कोई युक्ति न होने से कार्यकारण के बीच सामान्य कार्य-कारणभाव नही सिद्ध हो सकता। अतः कार्यसामान्य से कर्तृसामान्य के अनुमान करने का प्रयास असभव है।

इस से अतिरिक्त व्याख्याकार का कहना है कि प्रयत्न से प्रायोगिक कार्यो की ही उत्पत्ति होती हैं। प्रायोगिक उसे कहते है जो प्रयोग अर्थात् मनुष्य की चेष्टा से साध्य है। इसलिए प्रायोगिकत्व ही कार्यत्व का व्याप्य होने से प्रयत्न का जन्यतावच्छेदक है। और वह शैल आदि कर्तृहीन कार्यो से व्यावृत्त है और देवकुलादि कर्तृ सापेक्ष कार्यो मे अनुगत है। और उस के अस्तित्व मे 'गृहादिकार्यम् प्रायोगिकम्' और 'शैलादिकार्यम् न प्रायोगिकम्' यह सार्वजनिक व्यवहार ही प्रमाण है। इसी अभिप्राय से सम्मतिग्रन्थ के टीकाकार ने हेतुसवन्धी विकल्प प्रस्तुत होने पर नैयायिक द्वारा उद्भावित कार्यसमत्व का निराकरण किया है। इस विषय की स्पष्टता के लिए सम्मतिटीका द्रष्टव्य हैं।

### (खण्डघट का ईश्वर कर्त्ता है-दीधितिकार की युक्ति)

तत्वचिंतामणि ग्रन्थ के उपर दीधिति नाम की व्याख्या करने वाले रघुनाथ शिरोमणि ने, ईश्वर की सिद्धि के सवन्ध में यह कहा हैं कि-कार्य सामान्य के प्रति कृतिसामान्य की कारणता न मानने पर भी घट आदि के प्रति कुलाल आदि की कृति कारण है' इस कार्यकारणभाव के बल पर भी ईश्वर को सिद्धि की जा सकती है। उदाहरण के रूप मे उन्होने खडघट को प्रस्तुत किया हैं। उन का आशय यह है कि घटमे से कुछ अश निकल जाने पर पूर्ववर्ती पूर्ण घट का नाश होकर नये अपूर्व घट की उत्पत्ति होती है उसे खडघट कहा जाता है। जब यह कार्यकारणभाव है कि घट सामान्य के प्रति कुलालकृति कारण है तो इस खडघट के भी घट सामान्य के अतर्गत होने से इसके लिए भी कुलालकृति का होना आवश्यक है। किन्तु वह कुलालकृति आधुनिक कुलाल की कृति नहीं हो सकती। क्योंकि उस खडघट का निर्माण करने के लिए कोई आधुनिक कुलाल उपस्थित नहीं होता। अत यह मानना होगा-यह खडघट जिस कुलाल की कृति से उत्पन्न होता है वह कुलाल ईश्वर है। यही कारण है-वेदो मे 'नम कुलालेभ्य' कहकर कुलाल के रूप मे ईश्वर को वदना की गई है।

### (खडघट याने पूर्णतापर्याय की निवृत्ति]

व्याख्याकारने दीधितिकार के इस प्रयास को यह कहकर तुच्छ बताया है कि घट का कोई अश निकल जाने पर पूर्वघट का नाश होकर किसी नये खडघट की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु पूर्व घट मे हो

अत एव पाकेनापि नान्यघटोत्पत्तिः, विशिष्टसामग्रीवशाद् विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कथञ्चिदविनाशेऽप्युत्पत्तिसंभवात, इति व्यक्तं सम्मतिटीकायाम्। परेषामपि स्वप्रयोज्य-विजातीयसंयोगसंबन्धेन तत्काले (कुलालकृतेः) सत्त्वाच्च। न च वैशेषिकनये श्यामघटा-दिनाशोत्तर रक्तघटाद्युत्पत्तिकाले प्राक्तनपरमाणुद्वयसंयोगद्व्यणुकादेर्नाशाद् नैवं संभवतीति

पूर्णत्वपर्याय की निवृत्ति होकर खण्डत्व पर्याय की उत्पत्ति होती है। तो जब कोई नया घट उत्पन्न ही नहीं होता तब उस के कर्ता रूप मे किसी पुरुषविशेष की कल्पना कैसे की जाये ?

व्याख्याकार ने अपने इस कथन के समर्थन मे प्रत्यभिज्ञा को प्रमाणरूप मे प्रस्तुत किया है। उन का आशय यह है कि किसी घट मे से कुछ अंश निकल जाने के बाद भी 'स एव अयं घट' =यह वही घट है' इसप्रकार वर्तमान घट मे पूर्वघट के तादात्म्य का दर्शन होता है।

यदि पूर्व घट का नाश होकर नये घट की उत्पत्ति मानी जायेगी तो इस तादात्म्य दर्शनरूप प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि- यह प्रत्यभिज्ञान यथार्थ नहीं है किन्तु भ्रमरूप है। अत इस से पूर्णघट और खंडघट की एकता नहीं सिद्ध हो सकती'–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञा को भ्रम मानने पर उस के कारणरूप मे सादृश्य आदि दोष की कल्पना करनी होगी। और जहाँ भी प्रत्यभिज्ञा होती है वहा सर्वत्र उसे भ्रम मानकर प्रत्यभिज्ञात पदार्थको पूर्व पदार्थ से भिन्न मानने की स्थिति उत्पन्न होने से अनेक पदार्थों की कल्पना का गौरव भी हो सकता है। यदि यह कहा जाय—'कि-खण्डघट मे पूर्वघट के तादात्म्य का दर्शन भ्रम है जो दोनो मे भेदबुद्धि न होने पर सादृश्य के कारण होता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस कल्पना मे पूर्वघट का नाश और नवीन घट की उत्पत्ति तथा इन दोनो मे तादात्म्यदर्शन के लिए सादृश्य मे दोषत्व की कल्पना होने से अतीव गौरव है।

### (पाकक्रिया से अन्यघट उत्पत्ति प्रक्रिया की समालोचना)

इसीलिए सम्मति टीका मे भी यह बात स्पष्ट की गई है कि पाक से श्यामघट का नाश होने पर अन्य घट की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु विशिष्ट सामग्री के प्रभाव से पूर्ववर्ण से विलक्षण वर्णशाली उसी घटद्रव्य की उत्पत्ति होती है उस के पूर्ववर्ण की निवृत्ति होने परभी उसका नाश नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण मे पूर्व पर्यायके रूप मे नष्ट होते हुए और उत्तर पर्यायके रूप मे उत्पन्न होते हुए भी अपने मूलद्रव्य के रूप मे स्थिर रहती है।

वशेषिक आदि के मत मे यद्यपि पाकस्थल मे पूर्वघट का नाश होकर नवीन घट की उत्पत्ति होती है, तथापि उस घटके कारणरूप मे ईश्वरीयकृति की कल्पना आवश्यक नहीं है क्योंकि कृति घटके प्रति साक्षात् कारण न होकर स्वप्रयोज्य विजातीय संयोग संबंध से ही कारण होती है। और उक्त संयोगसम्बन्ध से पाकस्थल मे भी कुलाल की पूर्वकृति होने मे कोई बाधा नहीं है। क्योंकि उस समय जिस कपालद्वय संयोग से घटकी उत्पति होती है उसे भी कुलाल की पूर्वकृति का प्रयोज्य माना जा सकता है, क्योंकि कुलाल की पूर्वकृति से उसी प्रकार का संयोग होकर यदि पूर्वघट न होता तो उसके पाक और पाक से नये घट की उत्पति की स्थिति ही न होती। अत॰ यह कहा जाना सर्वथा सङ्गत है कि नया घट जिस कपालद्वय संयोग से उत्पन्न होता है वह भी परंपरा से पूर्वघट के उत्पादक कुलाल की पूर्वकृति का प्रयोज्य है।

वाच्यम्; पूर्वसंयोगादिध्वंसपूर्वद्व्यणुकादिध्वंसानामुत्तरसंयोगद्व्यणुकादावन्ततः कालोपाधितयापि जनकत्वात्, तत्कालेऽपि कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन सत्त्वात्; अन्यथा घटत्वावच्छिन्ने दण्डादिहेतुत्वमपि दुर्वचं स्यात्। 'दण्डादिजन्यतावच्छेदकं विलक्षणघटत्वादिकमेवे' ति चेत्? कृतिजन्यतावच्छेदकमपि तदेवेष्यताम्। 'कृतेर्लाघवाद् विशेष्यतयैव हेतुत्वात् यत्र दण्डस्य स्वप्रयोज्यकपालद्वयसंयोगेन सत्त्वम्, न तु विशेष्यतया कुलालकृतिः, तत्रैव खण्डघटे तत्सिद्धिरिति चेत्? न, कृतेरपि स्वप्रयोज्यसंबन्धेनैव हेतुत्वात्, विजातीयसंयोगत्वेन संबन्धत्वे गौरवात्, घटत्वावच्छिन्ने विजातीयकृतित्वेनैव हेतुत्वाच्चेति दिक्।

[ वैशेषिकमतानुसारी पाकप्रक्रिया की आलोचना ]

यदि यह कहा जाय कि—'वैशेषिक मत मे पाक से श्यामघट का नाश होने के बाद जब रक्तघट की उत्पत्ति होती है तो उसके पूर्व श्यामघट का द्व्यणुक पर्यन्त नाश हो जाता है। केवल विभक्त परमाणु रह जाते है और फिर परमाणुओ के सयोग से द्व्यणुक त्र्यणुक आदि की उत्पत्ति होकर कपालद्वय के नये सयोग से नये घट की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार नये घट की उत्पत्ति के समय कुलाल की पूर्वकृति से होनेवाला सपूर्ण सयोग आदि का नाश हो जाने से उक्त कृति के स्वप्रयोज्य विजातीयसयोग सम्बन्ध से अस्तित्व की कल्पना असभव है'—तो यह ठीक नही है। क्योकि पाक स्थल मे नये घट की उत्पत्ति के लिये जिन द्व्यणुक से लेकर कपाल पर्यन्त नये द्रव्यो की आवश्यकता होती है उनके प्रति पूर्ववर्ती परमाणुसयोगादि और द्व्यणुकादि का नाश कारण होता है। क्योकि किसी भी द्रव्य मे किसी कार्यद्रव्य के रहते नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती एव दो द्रव्यो मे पूर्वोत्पन्न सयोग के रहते उन द्रव्यो मे नये सयोग की उत्पत्ति नहीं होती अत उत्तर द्रव्य के प्रति पूर्व द्रव्य का नाश और उत्तर सयोग के प्रति पूर्व सयोग के नाश को कारण मानना आवश्यक होता है और इसके अतिरिक्त कालोपाधिरूप मे भी पूर्व सयोग और पूर्व द्व्यणुकादि का नाश, उत्तर सयोग और उत्तर द्व्यणुकादि के नाश का कारण होता है। अत पाक स्थल मे नवीन घट की उत्पत्ति के समय कुलाल की पूर्वकृति के स्वप्रयोज्य विजातीय सयोग सम्बन्ध से रहने मे कोई बाधा नहीं हो सकती क्योकि नवीन घटके लिये अपेक्षित परमाणु सयोग और द्व्यणुकादि पूर्व सयोग और पूर्व द्व्यणुकादि के नाश से जन्य है और उक्त नाश अपने प्रतियोगी से जन्य है और प्रतियोगी कुलाल की कृति से जन्य है। अत. कुलाल कृति से जन्य होनेवालो की परम्परा मे ही नवीन घट के उत्पादक कपालद्वय सयोग के होने से उसे कुलाल की पूर्व कृति से प्रयोज्य मानना सर्वथा सङ्गत है।

इस प्रसङ्ग मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि परमाणुओ का सयोग और द्व्यणुकादि की उत्पत्ति कुलाल कृति से नही होती। कुलाल कृति से तो कपाल और कपालद्वय का सयोग ही उत्पन्न होता है, अत नवीन घट के उत्पादक नवीन कपालद्वय सयोग को कुलाल कृति से प्रयोज्य इसलिये मानना चाहिये कि वह कुलाल कृति से उत्पादित पूर्व कपाल और पूर्वकपालद्वय सयोग के नाश से उत्पन्न है। व्याख्याकार का कहना है कि पाक स्थल मे नवीन घट की उत्पत्ति के समय स्वप्रयोज्य विजातीय सयोग सबध से कुलाल की पूर्वकृति का अस्तित्व मानना आवश्यक है। यदि ऐसा न माना जायगा तो घट सामान्य के प्रति दण्ड आदि की कारणता का समर्थन न हो सकेगा। क्योकि पाक से नवीन घट की उत्पत्ति के समय दण्ड आदि भी नहीं रहते। अतः उस घट के लिये यदि ईश्वरीय कृति

किञ्च, उपादानप्रत्यक्षस्य लौकिकस्य हेतुत्वात् कथमीश्वरे तत्सिद्धिः ? अपि च, प्रणिधानाद्यर्थं मनोवहनाड्यादौ प्रवृत्तिस्वीकारात् यद्धर्मावच्छिन्ने यदर्थिप्रवृत्तिः तद्धर्मावच्छिन्ने

की कल्पना आवश्यक है तो उसी प्रकार ईश्वरीय दण्डादि की भी कल्पना करने की आवश्यकता पड सकती है जबकि यह बात ईश्वर कर्तृत्ववादी को भी मान्य नहीं है। अत पाकस्थल मे नवीन घट के उत्पादक नवीन कपालद्वय सयोग को पूर्वदण्डप्रयोज्य मानकर स्वप्रयोज्यविजातीय सयोग सम्बन्ध से दण्डादि का अस्तित्व मानकर उस घट मे दण्डादि जन्यता की उपपत्ति जिस प्रकार की जायगी उसी प्रकार कुलाल की पूर्वकृति जन्यता की भी उपपत्ति की जा सकती है। अतः पाकस्थलीय घट की उत्पत्ति के अनुरोध से ईश्वरीय कृति की कल्पना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि—'दण्डादि को घट सामान्य के प्रति कारण न मानकर विलक्षण घट के प्रति कारण माना जायगा अतः पाक स्थलीय घट के लिये दण्डादि की आवश्यकता नहीं होगी।'— तो यह बात कृति के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। अर्थात् घट सामान्य के प्रति कृति को कारण न मानकर विलक्षण घट के ही प्रति कृति को कारण माना जा सकता है। अतः पाकस्थलीय घट के लिये कृति की भी कल्पना अनावश्यक हो सकती है।

यदि यह कहा जाय कि—'कृति को स्वप्रयोज्य विजातीय सयोग सम्बन्ध मे घट का कारण मानने मे गौरव है। अतः लाघव के लिये समवाय सम्बन्ध से घट के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से ही कृति को कारण मानना उचित है। ऐसी स्थिति मे जिस खण्ड घट की उत्पत्ति के पूर्व दण्ड स्वप्रयोज्य कपालद्वय सयोग सम्बन्ध मे है किन्तु कुलालकृति विशेष्यता सम्बन्ध मे नहीं है—उस खण्डघट के लिये ईश्वरीय कृति की कल्पना आवश्यक है'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कृति भी स्वप्रयोज्य सम्बन्ध से ही घट के प्रति कारण है न कि स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगसम्बन्ध मे क्योंकि विजातीयसंयोगत्व रूप से स्वप्रयोज्य को कारणतावच्छेदकसम्बन्ध मानने मे गौरव है। और स्वप्रयोज्यसम्बन्ध से कारण मानने मे विशेष्यता सम्बन्ध से कृति को कारण मानने की अपेक्षा कोई गौरव नहीं है। क्योंकि विशेष्यता सम्बन्ध से कारण मानने मे कारणतावच्छेदक सम्बन्धतावच्छेदकविशेष्यतात्व होगा और स्वप्रयोज्य सम्बन्ध से कारण मानने पर कारणतावच्छेदक सम्बन्धतावच्छेदक-प्रयोज्यत्व होगा। और प्रयोज्यत्व और विशेष्यतात्व मे कोई लाघव-गौरव नहीं है क्योंकि दोनो ही स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप है। उसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि कृति को घट सामान्य के प्रति कारण न मानकर विजातीय घट के प्रति कारण मानना उचित है। जैसा कि अभी दण्डादि को विजातीय घट के प्रति कारण बताया गया है। तो इस प्रकार जब घट सामान्य के प्रति कृति कारण ही नहीं है तो कृति के बिना भी पाकस्थलीय घट की या खण्डघट की उत्पत्ति हो सकती है। अत. उसके अनुरोध मे ईश्वरीय कृति की कल्पना नहीं की जा सकती।

## [ ईश्वर मे लौकिक प्रत्यक्षज्ञान का अभाव ]

इस प्रसङ्ग मे यह भी विचारणीय है कि उपादान कारण का लौकिक प्रत्यक्ष ही कार्य का हेतु होता है। क्योंकि उपादान के अलौकिक प्रत्यक्ष के आधार पर अन्य देशस्थ या अन्य कालस्थ उपादान मे कोई भी कर्ता कार्य को उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करता और उपादान का लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय के लौकिक सनिकर्ष से ही सपन्न होता है। अतः ईश्वर मे द्व्यणुकादि के उपादान पर-

तत्प्रकारकज्ञानमात्रस्य हेतुत्वात् कथमुपादानप्रत्यक्षमीश्वरस्य ? तस्यानुमितित्वे जन्यानुमिति-त्वं व्याप्तिज्ञानजन्यतावच्छेदकमिति गौरवोद्भावन तु प्रत्यक्षत्वे जन्यप्रत्यक्षत्वस्येन्द्रियादिजन्य-तावच्छेदकत्वकल्पनागौरवं नातिशेते। अपि च, तदुपादानप्रत्यक्षं निराश्रयमेवाऽस्तु, दृष्टविप-रीतकल्पनभिया तु नित्यज्ञानादिकमपि कथं कल्पनीयम् ? अभिहितश्चायमर्थो 'बुद्धिश्चेश्वरस्य यदि नित्याऽव्यापिकैवाऽभ्युपगम्यते, तदा सैवाऽचेतनपदार्थाधिष्ठात्री भविष्यति, इति किमपरत-दाधारेश्वरपरिकल्पनया ?'' इत्यादिना ग्रन्थेन सम्मतिटीकायामपि।

माणु आदि का लौकिक प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर इन्द्रियादि से रहित होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि जिस कार्य की इच्छा से जिस कारण मे मनुष्य की प्रवृत्ति होती है उस कारण मे उस कार्य का ज्ञान सामान्यरूप से हेतु होता है न कि उस कारण मे उस कार्य का प्रत्यक्षज्ञान। क्योंकि यदि कारण मे कार्य के प्रत्यक्षज्ञान को ही हेतु माना जायगा तो मन का प्रणि-धान=मन की एकाग्रता करने के लिये मनुष्य की मनोवहनाडी मे प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि मनो वहनाडी का उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। तो कार्यकारणभाव की इस स्थिति मे ईश्वर मे द्व्यणुकादि के उपादान का प्रत्यक्ष न सिद्ध होकर केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि ईश्वर मे द्व्यणुकादि के उपादान कारण का ज्ञान रहता है। अतः ईश्वर सर्वस्रष्टा न सिद्ध होकर सर्वज्ञाता ही सिद्ध हो सकता है।

सच बात तो यह है कि कार्य के प्रति उपादान कारण के ज्ञानसामान्य को कारण मानने पर द्व्यणुकादि के उपादान कारण के ज्ञाता रूपमे भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि एक ब्रह्माण्ड की सृष्टि के समान अन्य पूर्वोत्पन्न ब्रह्माण्ड मे विद्यमान योगी को किसी नवीन उत्पन्न होने-वाले ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत विद्यमान परमाणुओ का योगजन्य ज्ञान हो सकता है और उसी ज्ञान से नये ब्रह्माण्ड मे द्व्यणुकादि की उत्पत्ति हो सकती है। अत ब्रह्माण्ड ईश्वरकर्तृक न होकर योगिकर्तृक हो सकता है। इसलिये विश्वकर्तारूप मे ईश्वर की सिद्धि की आशा दुराशा मात्र है। यदि यह कहा जाय कि—संपूर्ण ब्रह्माण्ड का एक साथ खण्ड प्रलय होता है और खण्ड प्रलय की अवधि पूरी हो जाने पर नये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है। अत खण्ड प्रलयकाल मे कोई योगी नहीं रहता इसलिये नये ब्रह्माण्ड मे द्व्यणुकादि की उत्पत्ति परमाणुओ के योगिज्ञान द्वारा समर्थित नहीं हो सकती। अत द्व्यणुकादि के उपादानभूत परमाणुओ का ज्ञान सृष्टि के आरम्भ समय मे ईश्वर मे ही मानना आवश्यक है और उसे प्रत्यक्ष रूप ही होना उचित है। क्योंकि अनुमिति रूप मानने पर अनुमितित्व को व्याप्तिज्ञान का जन्यतावच्छेदक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह व्याप्ति ज्ञान से अजन्य ईश्वरीय अनुमिति मे रहने के कारण व्याप्तिज्ञानजन्यता का अतिप्रसक्त धर्म है। अत जन्यानुमितित्व को व्याप्ति-ज्ञान का जन्यतावच्छेदक मानना पडेगा और उसमे गौरव होगा।''— तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक मानने पर भी, ईश्वरीयनित्यप्रत्यक्ष मे इन्द्रियजन्यता नहीं है अत इन्द्रिय जन्यता के अतिप्रसक्त होने से प्रत्यक्षत्व को इन्द्रियजन्यता का अवच्छेदक न माना जा सकेगा किन्तु जन्यप्रत्यक्षत्व को ही इन्द्रिय का जन्यतावच्छेदक मानना होगा। अत ईश्वरीयज्ञान की प्रत्यक्षरूपता का समर्थन उक्तरीति से नहीं किया जा सकता।

किञ्च, एवं नानात्मस्वेव व्यासज्यवृत्ति तत्कल्प्यताम्, स्वाश्रयसंयुक्तसंयोगसंबन्धेन तेषु तत्कल्पनापेक्षया समवायेन तत्कल्पनाया एव तव न्याय्यत्वात्। न चैव घटादिभ्रमोच्छेदापत्तिः, बाधबुद्धिसत्त्वादिति वाच्यम्, बाधबुद्धिप्रतिबन्धकतायां चैत्रीयत्वस्यावश्यं निवेश्यत्वात्, तच्च समवेतत्वसम्बन्धेन चैत्रवत्त्वं, पर्याप्त्या वा, इति न किञ्चिद् वैषम्यम्।

अपि च, 'देवतासंनिधानेन' इति पक्षेण प्रतिष्ठादिना स्वाभेद-स्वीयत्वादिज्ञानं तदाहितसंस्काररूपं ब्रह्मादौ स्वीकृतम्, न च ब्रह्मादीनामीश्वरभेदः, भगवद्गीताविरोधात्। एवं

इस के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि 'कार्यं प्रत्यक्षादिजन्य, कार्यत्वात्' इस अनुमान से द्व्यणुकादि कार्यों के कारणभूत प्रत्यक्षादि सिद्ध होने पर भी उसके आश्रयरूप मे ईश्वर की सिद्धि मे कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि द्व्यणुकादि के उपादानभूत परमाणुओ के प्रत्यक्षादि को निराश्रय माना जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि– प्रत्यक्षादि किसी आश्रय मे ही रहता है। अत परमाणु के प्रत्यक्षादि मे निराश्रयत्व की कल्पना दृष्टविरुद्ध होने के कारण नहीं की जा सकती'–तो यह ठीक नहीं है क्योकि तब तो जीव मे अनित्य ही ज्ञान आदि सिद्ध होने के कारण ईश्वर के ज्ञान आदि मे नित्यत्व की भी कल्पना दृष्टविरोध के कारण नहीं की जा सकेगी। इस बात को सम्मति टीका मे यह कहते हुए स्पष्ट किया गया है कि यदि ईश्वर की बुद्धि नित्य और व्यापक है तो ईश्वर के बिना भी बुद्धि को अचेतन पदार्थों की अधिष्ठात्री मान लेना चाहिए। उसके आधारभूत ईश्वर की कल्पना निरर्थक है।

इस सन्दर्भ मे यह भी कहा जा सकता है कि–द्व्यणुकादि के उपादान कारणभूत परमाणुओ का ज्ञान ईश्वररूप किसी एक अतिरिक्त आत्मामे न रह कर सपूर्ण आत्माओ मे ही व्यासज्यवृत्ति-पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है क्योकि उस ज्ञान को अन्य आत्माओ का अधिष्ठाता बनाने के लिये उनके साथ उस ज्ञान का स्वाश्रय-सयुक्त-सयोग सम्बन्ध मानना होगा जैसे स्व का अर्थ है ज्ञान, उसका आश्रय है ईश्वर, उससे सयुक्त है मूर्तद्रव्य और उसका सयोग है जीवात्मा मे तो इस स्थिति मे यही उचित प्रतीत होता है कि उस ज्ञान को स्वाश्रय सयुक्त सयोग सम्बन्ध से जीवात्माओ मे न मानकर समवायसम्बन्ध से ही माना जाय। यदि यह कहा जाय कि-'उस ज्ञान को समस्त जीवो मे मानने पर किसी को घटादि का भ्रम न हो सकेगा, क्योकि जिस देश मे घटादि का भ्रम होता है उस देश मे प्रत्येक मनुष्य को घटाऽभाव की बुद्धि विद्यमान है जिससे घटादि के भ्रम का प्रतिबन्ध हो जाना अनिवार्य है'–तो यह ठीक नहीं है क्योकि एक पुरुष की बाधबुद्धि से अन्य पुरुष की विशिष्ट बुद्धि के प्रतिबन्धापत्ति के निवारणार्थ चैत्रादि तत्तपुरुषीय विशिष्टबुद्धि मे चैत्रादि तत्तपुरुषीय बाधबुद्धि को प्रतिबन्धक' मानना आवश्यक होता है। जिस मे तत्तत्पुरुषीयत्व का अर्थ तत्तत्पुरुषसमवेतत्व न कर तत्तत्पुरुष पर्याप्तत्व कर देने से जगत के कारणीभूत सर्वविषयक ज्ञान को सर्वात्मगत मानने पर होने वाली घटादि भ्रम के उच्छेद की आपत्ति का परिहार सुकर हो जाता है क्योकि सर्वविषयकज्ञान किसी एक आत्मा मे पर्याप्त न होकर सभी आत्मा मे पर्याप्त होता है। अतः तत्तत्पुरुष पर्याप्तबाधबुद्धि को प्रतिबन्धक मानने पर सर्वज्ञानात्मक बाधबुद्धि से विशिष्टबुद्धि का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता।

वैषयिकसुख दुःखादिश्रवणाद् धर्मा-ऽधर्मावपि तत्राऽङ्गीकर्तव्यौ । न च विरोधः, ब्रह्मादिशरीराव-च्छेदेनाऽनित्यज्ञानादिमत्त्वेऽप्यनवच्छिन्नज्ञानाऽविरोधात् । अत एवाऽन्ये तु 'स तपोऽतप्यत' इति श्रुतेः अणिमादिप्रतिपादकश्रुतेश्च धर्माऽधर्मावनित्यज्ञानादिकमपीश्वरे स्वीकुर्वन्ति, इति शशधरेऽभिहितम् । एतन्मते च बाधादिप्रतिबन्धकतायामवच्छिन्नसमवेतत्वेन चैत्रवृत्त्यादिलक्षण-चैत्रीयत्वादेरवश्यं निवेश्यत्वाद् नातिरिक्तनित्यज्ञानाश्रयसिद्धिः ।

[ईश्वर मे जन्यज्ञान की आपत्ति]

इस प्रसङ्ग मे इस विषय पर ध्यान देना भी आवश्यक है कि न्यायशास्त्र मे ब्रह्मा आदि देवताओ की प्रतिमाओ मे शास्त्रोक्त प्रतिष्ठाविधि से देवताओ का सन्निधान माना गया है । देवताओ के सन्निधान का अर्थ है प्रतिमा मे देवता की अभेदबुद्धि या आत्मीयत्व बुद्धि । इसी को प्रतिमा का प्रतिष्ठाजन्य सस्कार कहा जाता है । इस प्रकार जब ब्रह्मादि देवताओ मे अपनी अभिन्नता याआत्मीयता का ज्ञान उत्पन्न होता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर मे जन्यज्ञान नही होता किन्तु नित्यज्ञान ही होता है ! यदि यह कहा जाय कि 'ब्रह्मादि देवता ईश्वर से भिन्न है' तो यह ठीक नहीं है क्योकि भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण ने अपने को ही जगत् का स्रष्टा पालक और सहर्ता बताया है और अपने ही को ईश्वर कहा है । इसलिये ब्रह्मादि को ईश्वर से भिन्न मानना भगवद्गीता के विरोध के कारण उचित नही है । उसी प्रकार पुराणो मे यह भी सुनने को मीलता है-ब्रह्मादि देवताओ को अनायास उपलब्ध होने वाले विषयो से सुख और राक्षसो के अत्याचार से दु ख भी होता है । अत ब्रह्मादि मे सुख और दुःख के कारणभूत धर्माऽधर्म की भी सत्ता माननी होगी और ब्रह्मादि के ईश्वर से भिन्न न होने के कारण ईश्वर मे भी धर्माऽधर्म की सत्ता अनिवार्य होगी ।

इस प्रसङ्ग मे यह भी कहा जा सकता है कि–सृष्टि के आरम्भ मे द्व्यणुकादि की उत्पत्ति के हेतु के उपादान कारण परमाणु का ज्ञान ईश्वर को मानना आवश्यक होता है और उस समय कोई शरीर न होने से उस ज्ञान को शरीरादि से अनवच्छिन्न नित्य ही मानना पडेगा । तो फिर उसमे अनित्य ज्ञानादि की सत्ता मानना विरोधग्रस्त है'– किन्तु यह ठीक नहीं है क्योकि ब्रह्मादि के शरीर द्वारा अनित्य ज्ञानादि की सत्ता और किसी सशरीर आदि को द्वार बनाये बिना ही नित्यज्ञान की सत्ता मानने मे कोई विरोध नही हे । इसीलिये 'शशधर' नामक पडितने स्वग्रन्थ मे यह कहा है कि अन्य विद्वान स तपोऽतप्यत' इस श्रुति के अनुसार और ईश्वर मे अणिमादि आठ प्रकार के ऐश्वर्यो का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के अनुसार ईश्वर मे धर्माधर्म और अनित्यज्ञानादि का अस्तित्व मानते है । इस मत मे विशिष्टबुद्धि के प्रति बाधबुद्धि को शरीरावच्छिन्न समवेतत्वरूप से या पर्याप्तत्वसम्बन्धेन चैत्र-निष्ठत्व रूप से प्रतिबन्धक मानकर भ्रम की अनुपपत्ति का परिहार किया जा सकता है क्योकि सर्व विषयक नित्यज्ञानात्मक बाधबुद्धि शरीरावच्छेदेन समवेत नही होती और न पर्याप्तत्व सम्बन्ध से चैत्रादि एक व्यक्ति मे ही विद्यमान होती है । अत. उससे भ्रमोत्पत्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार समस्त जीवो मे द्व्यणुकादि के उपादान कारणो के नित्यज्ञान को व्यासज्यवृत्ति मान लेने से सपूर्ण आवश्यक उपपत्तिया हो जाने के कारण नित्यज्ञान के ईश्वररूप अतिरिक्त आश्रय की सिद्धि नहीं हो सकती ।

किञ्च, प्रवृत्तिविशेषे इच्छान्वय-व्यतिरेकवत्, प्रवृत्तिविशेषे द्वेषाऽन्वय-व्यतिरेकावपि दृष्टौ, दुःखद्वेषेण तत्साधनद्वेषे तन्नाशानुकूलप्रवृत्तेः कण्टकादौ दर्शनात्। न च जिहासयैव द्वेषान्यथासिद्धिः, 'तद्धेतोः'० इति न्यायात्; अन्यथा द्वेषपदार्थ एव न स्यात्, 'द्वेष्मि' इत्यनुभवे क्वचिदनिष्टसाधनताज्ञानस्य, क्वचिच्चाऽनिष्टत्वज्ञानस्यैव द्वेषपदेन तथाभिलापात्। एवं च कार्यसामान्ये द्वेषस्याऽपि हेतुत्वसिद्धौ नित्यद्वेषोऽपीश्वरे सिद्ध्येत्। 'द्वेषवतः समाप्त्यिप्रसङ्ग' इति चेत्? चिकीर्षावतोऽपि किं न सः? 'द्वेष-चिकीर्षयोस्तत्र समानविषयत्वे करणा-ऽकरणप्रसङ्गः, भिन्नविषयत्वे च तत्कार्यं न कुर्यादेव, इति बाधकाद् द्वेषकल्पना त्यज्यत' इति चेत्? एवमुत्तरकालोपस्थितबाधकेन तद्बाधोपगमे, नित्यज्ञानादिकल्पनागौरवादिबाधकेन क्लृप्तोऽपीश्वरस्त्यज्यताम्।

[प्रवृत्ति से ईश्वर मे द्वेष का अतिप्रसंग]

इस सदर्भ मे यह भी विचारणीय है कि जैसे प्रवृत्तिविशेष मे इच्छा का अन्वयव्यतिरेक होता है अर्थात् जिस विषय की इच्छा होती है उस विषय मे प्रवृत्ति होती है और जिस विषय मे इच्छा नहीं होती उस विषय मे प्रवृत्ति नहीं होती, उसीप्रकार प्रवृत्तिविशेष मे द्वेष का भी अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है। जैसे दुख के प्रति द्वेष होने के कारण दु.ख साधन कण्टकादि के प्रति द्वेष होने मे उन का नाश करने के लिये कण्टकादि मे प्रवृत्ति होती है, और जिस विषय मे द्वेष नहीं होता उन विषय के नाश के लिये उस मे प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे पुत्रकलत्रादि। फलतः ईश्वर मे जगत् निर्माण की प्रवृत्ति मानने पर जैसे उस मे नित्य इच्छा मानी जाती है उसीप्रकार जगत् निर्माण के विरोधी वस्तु के नाश के लिये उस के पर द्वेष मानना भी आवश्यक होगा। इस प्रकार ईश्वर का द्वेषी होना अनिवार्य हो जायगा जो न्यायशास्त्र की दृष्टि से मान्य नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-"दु.खसाधनो के नाशार्थ जो प्रवृत्ति होती है वह उन के प्रति द्वेष के कारण नहीं होती अपितु उन के परित्याग की इच्छा से होती है। क्योंकि जिस वस्तु के प्रति द्वेष होता है उस वस्तु के त्यागकी भी इच्छा अवश्य होती है अत एव त्याग की इच्छा से द्वेष अन्यथासिद्ध हो जाता है। अतः अनिष्ट साधनो के नाशार्थ होनेवाली प्रवृत्ति से द्वेष का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस की उपपत्ति जिहासा अर्थात् त्याग की इच्छा से ही सम्पन्न हो जाती है-" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'तद्धेतोरेवास्तु किं तेन ?' इस न्याय से नाशार्थ प्रवृत्ति के प्रति द्वेषजन्य जिहासा को हेतु मानने के बजाय सीधे द्वेष को ही हेतु मानने मे औचित्य है। और यदि जिहासा से द्वेष को अन्यथासिद्ध माना जायगा तो द्वेष पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि दु.ख स्वरूपतः अर्थात् बिना द्वेष्य हुए और उस का साधन अनिष्ट का साधन होने से सीधे ही, जिहासित हो जायगा। जिहासा के पूर्व दुःख या दु.ख के साधन प्रति द्वेष मानने की कोई आवश्यकता सिद्ध न होगी।

यदि यह कहा जाय कि 'द्वेष्मि-मुझे इस विषय के प्रति द्वेष है-यह अनुभव ही द्वेष के अस्तित्व मे प्रमाण होगा'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दु ख के साधन कण्टकादि मे अनिष्ट साधनता

एतेन-"पुरेषु पुरेशानामिव जगदीशज्ञानेच्छादित एव तत्तत्कार्याणां स्वल्पतमाऽधम-देश-कालादिनियमः, वदन्ति हि पामरा अपि-'ईश्वरेच्छैव नियामिका' इति । न चैवं तत्त-

के ज्ञान को तथा दु.ख मे अनिष्टत्व ज्ञान को ही द्वेष पद के व्यवहार का विषय मानकर उन ज्ञानो द्वारा हो 'द्वेष्मि' इस अनुभव की उपपत्ति की जा सकती है। इस उपर्युक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि जैसे घटपटादि कतिपय कार्यो मे ज्ञान-इच्छा आदि का अन्वय-व्यतिरेक देखकर कार्य सामान्य के प्रति ज्ञान-इच्छा आदि को कारण माना जाता है और उस के आधार पर कार्य सामान्य मे ज्ञानादि जन्यत्व का अनुमान करके कार्य सामान्य के कारणीभूत ज्ञानादि को ईश्वरनिष्ठ माना जाता है। उसीप्रकार दु.खसाधनीभूत कण्टकादि के नाशरूप कार्य मे कण्टकादि के प्रति द्वेष का अन्वय-व्यतिरेक देखकर कार्यसामान्य के प्रति द्वेष को भी कारण माना जा सकता है और उस के आधार पर कार्य सामान्य मे द्वेषजन्यत्व का अनुमान कर कार्य सामान्य के कारण भूत द्वेष को भी ईश्वरनिष्ठ मानना अनिवार्य हो सकता है। फलत ईश्वर मे नित्यज्ञानादि के समान नित्य द्वेष की भी सिद्धि का परिहार नहीं किया जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि-'ईश्वर मे द्वेष मानने पर वह ईश्वर ही नहीं हो सकेगा अपितु ससारी हो जायगा'-तो यह आपत्ति तो ईश्वर मे चिकीर्षा मानने पर भी अपरिहार्य है। क्योकि चिकीर्षा भी ससारी मे ही देखी जाती है। यदि यह कहा जाय कि—द्वेष और चिकीर्षा को समानविषयक मानने पर एक ही समय एक हो कार्य के करने और न करने दोनो को ही आपत्ति होगी। अर्थात् चिकीर्षा से उस कार्य का उत्पादन और द्वेष से उसी कार्य का अनुत्पादन भी प्रसक्त होगा। जो अत्यन्त विरुद्ध है और यदि द्वेष और चिकीर्षा को भिन्नविषयक माना जायगा तो जो द्वेष का विषय होगा वह चिकीर्षा का विषय न होने से ईश्वर द्वारा उत्पाद्य न हो सकेगा। फलत ईश्वर मे सर्वकार्यकर्तृत्व के सिद्धान्त की हानि होगी। अत ईश्वर मे द्वेष की कल्पना नहीं का जा सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योकि ईश्वर ने द्वेष कल्पना का जो बाधक प्रस्तुत किया गया है वह ईश्वर मे द्वेष की सिद्धि हो जाने पर उपस्थित होता है अत उसे द्वेष कल्पना का बाधक नहीं माना जा सकता। और यदि किसी वस्तु की सिद्धि के बाद उपस्थित होने वाले बाधक से भी उस वस्तु की सिद्धि का बाध माना जायगा तो ईश्वर को सिद्धि का भी प्रतिबन्ध उस बाधक से हो सकता है जो ईश्वर मानने के फलस्वरूप उपस्थित होता है जैसे, ज्ञान इच्छा और प्रयत्न मे नित्यत्व अर्थात् सपूर्णकाल के साथ सम्बन्ध की कल्पना एव ईश्वर मे सपूर्णकाल के सम्बन्ध की कल्पना और नित्य ज्ञान आदि मे सपूर्ण वस्तुओ के विषयत्व की कल्पना एव घटाभाव पटाभावादि अनन्त अभावो के सम्बन्धो की कल्पना से होनेवाला गौरव, तब कल्पित ईश्वर को भी छोड देना होगा।

[ ईश्वर की इच्छा से देश-काल नियम को उपपत्ति का प्रयास ]

इस सन्दर्भ मे कतिपय ईश्वर कर्तृत्ववादियो की ओर से यह कहा जाता है कि 'जिस प्रकार नगरो मे नगराधीश की ज्ञान इच्छा के अनुसार ही अल्प अथवा अधिक देश काल और परिमाण मे भिन्न भिन्न कार्यो के उत्पादन का नियन्त्रण होता है उसी प्रकार यह मानना भी आवश्यक है कि जगत् का कोई अधीश्वर है और उसके ज्ञान-इच्छादि से ही जगत मे विभिन्न कार्यो के उत्पादन का नियन्त्रण होता है। यह मान्यता इतनी दृढमूल हैं कि अशिक्षित भी ऐसा कहा करते है कि 'ससार मे

देश-कालनियततत्तत्कार्योत्पत्तिज्ञानादित एव तत्तत्कार्यनिर्वाहे गतं दण्डादिकारणत्वेनेति वाच्यम्, तदनुमतत्वेनैव दण्डादीनां घटादिहेतुत्वात् । न हि 'दण्डादिरेव घटादेरनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्ती न वेमादिः' 'कपालादि समवायि, न तन्त्वादिकम्' इत्यत्राऽन्यद् नियामकं पश्याम इति तदनुमत्यादिकमेव तथा, तदनुमत्यादिकं न साक्षात्, किन्तु तत्तत्कारणद्वारा तत्तत्संपादकम् । न हि राजाज्ञादिनाऽपि विनांशुकं तन्त्वादि, विना तन्त्वादिकं पटादि"-इति पामराशयानुसरणसंक्रान्तपामरभावानां मतमपास्तम्, राजाज्ञादितुल्यतयेश्वरेच्छाया अहेतुत्वात् सामग्रीसिद्धस्य नियतदेश-कालत्वस्य तज्जन्यताघटकतया तदनियम्यत्वात्, अन्यथा तत्काला-

जो कुछ होता है वह सब ईश्वर की ही इच्छा से होता है।' यदि यह कहा जाय कि-तद् तद् देश और तद् तद् कार्य की उत्पत्ति नियत है और इस नियतत्व के ज्ञान आदि से ही तद् तद् देश और तद् तद् काल में तद् तद् कार्य की उत्पत्ति का नियन्त्रण होता है—ऐसा मानने पर घटपटादि कार्यों के प्रति दण्ड-वेमादि की कारणता का ही लोप हो जायगा'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दण्ड-वेमादि घटपटादि कार्यों के प्रति जो कारण होते हैं वह भी ईश्वर की अनुमति से ही होते हैं। यदि ऐसा न माना जायगा तो 'दण्डादि ही घटादि का अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती होता है और वेमादि नहीं होता, एवं कपालादि ही घटादि का समवाय सम्बन्ध से आश्रय होता है तन्तु आदि नहीं होता' इसका ईश्वर को छोड़कर दूसरा कोई नियामक नहीं हो सकता। और यह भी ज्ञातव्य है कि ईश्वर की अनुमति भी तत्तत्कार्यों का साक्षात् उत्पादक न होकर तत्तत्कारणों द्वारा ही उत्पादक होती है। यह मानना लोकस्थिति के अनुकूल भी है क्योंकि राजा की आज्ञाआदि से भी तन्तु आदि का निर्माण अंशुकादि के बिना और पटादि का निर्माण तन्तु आदि के बिना नहीं होता। अतः जैसे किसी भी राज्य में विभिन्न कार्यों का उत्पादन राजा की आज्ञा अनुसार होने पर भी उस कार्य के लोकसिद्ध कारणों के माध्यम से ही होता है उसी प्रकार जगत् में भी जगत् के राजा ईश्वर की इच्छा से भी तत्तत्कार्यों का उत्पादन तत्तत्कार्यों के लोक सिद्ध कारणों द्वारा ही होना उचित है, क्योंकि परमेश्वर की वैसी ही अनुमति है।

इस सम्बन्ध में व्याख्याकार श्रीमद्यशोविजयजी महाराज का कहना है कि यह मत पामरों के अभिप्रायानुसार प्रवृत्त होने के कारण संक्रान्त पामरभाव वाले व्यक्तियों के लिये ही मान्य हो सकता है, बुद्धिमान मनुष्य इस मत को नहीं स्वीकार कर सकता, क्योंकि राजा की आज्ञादि के समान ईश्वर की इच्छा को कारण मानना प्रमाणसिद्ध नहीं है। क्योंकि इस मत में तत्तद्देश और तत्तत्काल में तत्तत्कार्य के नियतत्व को ही-जो तद् तद् कार्य की उत्पादक सामग्री से संपन्न होता है-तद् तद् देश और तद् तद् काल में तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियामक कहा गया है। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं होता। क्योंकि उक्त नियतत्व तत्तत्कार्यगतजन्यता का घटक होता है अत एव उससे तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियमन नहीं हो सकता, क्योंकि तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियमन उसीसे संभव है जो तत्तत्कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उपस्थित हो सके, किन्तु जो तत्तत्कार्यगत जन्यता का घटक है वह तो तत्तत्कार्य के साथ ही उत्पन्न हो सकता है न कि तत्तत्कार्योत्पत्ति के पूर्व। अतः उसे तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियामक मानना संभव नहीं हो सकता।

वच्छिन्नद्रष्टावच्छिन्नविशेष्यतयोपादाननिष्ठतयोपादानप्रत्यक्षादित्रयहेतुताकल्पने गौरवात् , समवेतत्वसंबन्धेनेश्वरीयत्वेन तत्त्रयानुगमेऽप्यसमवायितमत्त्वलक्षणेश्वरत्वनिवेशे गौरवात् प्रत्येकमादाय विनिगमनाविरहाच्च तत्कालावच्छिन्नत्वसंबन्धेन नियतेरेव हेतुत्वकल्पनौचित्यात् , इतरकारणवैयर्थ्यापत्तेश्च । तदनुमतदण्डत्वादिनाऽहेतुत्वात् , दण्डादीनां हेतुत्वनियमस्य च स्वभावत एव संभवात् न तदर्थमपीश्वरानुसरणम् , अन्यथा तज्ज्ञानादेस्तत्तत्कारणानुमतित्वेऽपि नियामकान्तरं गवेषणीयम् । 'धर्मिग्राहकमानेन तत् स्वतोनियतमेवेति' चेत् ? इदमपि तत एव किं न तथा ? व्यवस्थितश्चायमर्थो 'न चाचेतनानामपि स्वहेतुसंनिधिसमासादितोत्पत्तीनां चेतनाधिष्ठातृव्यतिरेकेणापि देश काला ऽकारणनियमोऽनुपपन्नः, तन्नियमस्य स्वहेतुबलायातत्वात्' इत्यादिना ग्रन्थेन सम्मतिटीकायामपि ।

तत्तद्देश और तत्तत्काल मे तत्तत्कार्य के नियतत्व को तत्तत्कार्य की उत्पत्ति का नियामक न मानने मे यह भी एक युक्ति है कि-यदि तत्तद्देश और तत्तत्काल मे तत्तत्कार्य के नियतत्व को ही कारण मान लिया जायगा तो तत्तत्काल मे और तत्तद्देश मे तत्तत्कार्य के प्रति तत्तत्कालीन तत्तत्कार्य के उपादान का प्रत्यक्ष और तत्तत्कार्य की चिकीर्षा तथा तत्तत्कार्य के लिये तत्तत्कार्य के उपादान मे होनेवाले प्रयत्न को तत्तत्कार्य के प्रति कारण मानना गौरव के कारण त्याज्य हो जायगा । यदि तीनो को ईश्वर मे समवेत होने के कारण समवेतत्व सम्बन्ध द्वारा ईश्वरीयत्व रूप से तीनो का अनुगम कर तीनो मे एक कारणता मानी जायगी तो भी कारणतावच्छेदक के शरीर मे असंसारी आत्मत्व लक्षण ईश्वरीयत्व का निवेश करने मे गौरव होगा । और यदि ईश्वरीयत्वरूप से अनुगम न कर आत्मसमवेतत्वरूप से अनुगम किया जायगा तो तत्तद् आत्मा को लेकर विनिगमनाविरह होने से तत्तदात्मसमवेतत्व रूप से ज्ञान-इच्छा प्रयत्न मे अनन्तकारणता की आपत्ति होगी । और उसके वारण के लिये तत्कालावच्छिन्नत्व सबन्ध से उक्त नियति को कारण मानने पर घटपटादि के अन्य कारणो का वैयर्थ्य भी होगा ।

इस प्रसङ्ग मे जो यह बात कही गई कि- घटपटादि कार्य के प्रति दण्ड वेमादि को कारण मानने के लिये ईश्वर की अनुमति आवश्यक है अन्यथा वेमा घट का और दण्ड पट का कारण होने लगेगा'-यह ठीक नहीं है । क्योकि दण्ड वेमादि मे घटपटादि की कारणता का नियम स्वाभाविक है । अर्थात् दण्ड-घट का ही कारण हो पट का न हो और वेमा पट ही का कारण हो घट का न हो यह बात दण्ड और वेमा के स्वभाव पर ही निर्भर हैं । उस के लिये ईश्वरानुमति की कल्पना अनावश्यक हैं । और यदि तत्तद्कार्य की कारणता को ईश्वरानुमति के आधीन माना जायगा तो यह प्रश्न हो सकता है कि दण्ड मे ही घट की कारणता ईश्वरानुमत क्यो हैं ? वेमा मे घट की कारणता ईश्वरानुमत क्यो नहीं है ? अत तत्तद् वस्तु मे तत्तद्कार्य-कारणता को ईश्वरानुमति का भी कोई दूसरा नियामक अपेक्षणीय होगा । और इस प्रकार नियामको की कल्पना मे अनवस्था को प्रसक्ति होगी । यदि यह कहा जाय कि -दण्ड मे ही घट की कारणता ईश्वरानुमत है यह बात ईश्वर साधक प्रमाणो से ही सिद्ध है अन्यथा यदि ईश्वरानुमतत्व को भी अन्य नियामक की अपेक्षा होगी तो उसकी सिद्धि ही न हो सकेगी'-तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योकि ऐसा मानने पर यह भी कहा जा सकता है कि दण्डादि मे घटादि की कारणता भी स्वत. ही नियत है । उस के लिये ईश्वरानुमति जैसे अन्य नियामक की आवश्यकता नहीं

किञ्च, एतादृशनियामकत्वं भवस्थ सिद्धादिज्ञान एव, इति किं शिपिविष्टकल्पनाकष्टेन ? तदिदमुक्तं हेमसूरिभिः—

"सर्वभावेषु कर्तृत्वं ज्ञातृत्वं यदि संमतम् ।
मतं नः, सन्ति सर्वज्ञा मुक्ताः कायभृतोऽपि हि" ।। [वी०स्तो०७-७] ॥ इति ।

युक्तं चैतत्, "जं जहा भगवया दिट्ठं त तहा विपरिणामइ" * इति भगवद्वचनस्यापीत्थमेव व्यवस्थितत्वात् । एवं च—

"समालोच्य क्षुद्रैरपि भवननाथस्य भवने, नियोगाद् भूतानां मितसमय-देशस्थिति-लयम् ।
अये ! कथं भ्रान्तिः सततमपि मीमांसनजुषां,व्यवस्थातःकार्ये जगति जगदीशाऽपरिचयः ॥१॥"

है। अन्यथा नियामक के नियामक का प्रश्न उठाने पर अनवस्था होने के कारण दण्डादि मे घटादि की कारणता ही नहीं सिद्ध होगी।

सम्मति टीका मे इस विषय को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति उन के हेतुओ के सन्निधान से ही सपन्न होती है । उनमे 'उनके देश, काल और आकार का नियमन चेतनरूप अधिष्ठाता के विना नहीं हो सकता' यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि कार्यों के देश काल और आकार का नियमन उन के हेतुओ के ही सामथ्य से हो जाता है अर्थात् जो हेतु जिस कार्य का उत्पादक होता है वह उसे नियत आकार में ही उत्पन्न करने के सामर्थ्य से स्वभावत सपन्न होता है ।

## [भवस्थित केवली के ज्ञान से नियमन का सम्भव]

इस सन्दर्भ मे एक दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि तत्तत् देश और तत्तत् काल मे तत्तत् कार्य की उत्पत्ति का नियमन तथा दण्डादि मे घटादि की ही कारणता का नियमन भवस्थसिद्ध के ज्ञान से भी सभव हो सकता है अत उस के लिये महेश्वर की कष्टमय कल्पना अनावश्यक है। इस बात को श्रीहेमचन्द्रसूरिमहाराज ने यह कहकर समथन दिया है कि-यदि सपूर्ण भावों के प्रति कर्तृत्व ज्ञातृत्वस्वरूप स्वीकार्य हो तब आर्हतोके मत मे जो अनेक शरीरधारी सर्वज्ञजीवन्मुक्त माने गये हैं उन्हीं मे सपूर्ण भावों का ज्ञातृत्व है ही तो उन्हीं मे सवभावकर्तृत्व मान लेना आवश्यक है । किसी नये सवज्ञ की कल्पना निरर्थक है-यही युक्तिसङ्गत भी है क्योंकि 'भगवान ने जिस वस्तु को जिस रूप मे देखा है वह वस्तु उसी रूप मे निष्पन्न होती हैं' भगवान के इस वचन की भी व्यवस्था इसीप्रकार हो सकती है।

इस प्रसङ्ग मे नैयायिक-मीमांसकों की ओर से कोई इस आशय का पद्य पढे कि-"सामान्य जनो को भी जब इस बात की जानकारी होती है कि किसी गृहपति के गृह मे नियत देश और नियतकाल मे ही भूतो की उत्पत्ति आदि की जो व्यवस्था देखी जाती है वह अकारण नहीं होती किन्तु गृहपति की इच्छा से ही होती है, तब वेदवचनों को निरतर मीमासा करनेवाले विद्वानो को यह कैसा भ्रम है कि व्यवस्था को देखते हुए भी वे अपने को जगदीश के सम्बन्ध मे परिचयशून्य बताते हैं ? और जगदीश का अस्तित्व बिना माने ही कार्यों की व्यवस्था पर अपनी आस्था प्रगट करता है ।"-

* यद् यथा भगवता दृष्टं तत् तथा विपरिणमते ।

इति पद्येऽपि प्रतिपद्यमेवं मदीयम्—

पिनष्टीयं पिष्टं भवनियमसिद्धिव्यवसितिः स्वभावाद् भूतानां मितसमयदेशस्थितिरिति ।
अये ! केयं भ्रान्तिः सततमपि तर्कव्यसनिनां वृथा यद्व्यापारो जगति जगदीशस्य कथितः ॥२॥

इति दिग् । अत एवाऽग्रिमाण्यप्यनुमानान्यपास्तानि ।

किञ्च, द्वितीयानुमाने 'स्वोपादान'-इत्यत्र स्वपदस्य द्व्यणुकादिपरत्वे साध्याऽप्रसिद्धिः, घटादिपरत्वे पटादौ संदिग्धानैकान्तिकत्वम्, स्वोपादानगोचरत्वादिनाऽपाततोऽपि हेतुत्वाभावतोऽत्यप्रयोजकत्वं च । तृतीये ज्ञानेच्छापदोपादानप्रयासः । चतुर्थे सर्गाऽसिद्धया परं प्रति पक्षाऽसिद्धिः ।

---

तो इस पद्यके विरोध मे नैयायिक के प्रति व्याख्याकार पू०यशोविजयजी महाराज इस आशय का अपना पद्य प्रस्तुत करना चाहते है कि– नियत देश और नियतकाल मे भूतो के जन्मादि की व्यवस्था स्वाभाविक है । अत जगत् मे होनेवाली कार्यो की उत्पत्ति आदि के नियमो की उपपत्ति के लिये ईश्वर को सिद्ध करने का व्यवसाय पिष्टपेषण मात्र है । अत निरन्तर तर्को का ही व्यसन करनेवाले नैयायिको को यह एक कैसा भ्रम है कि वे स्वभाव सिद्ध व्यवस्था के लिये जगदीश के व्यर्थ व्यापार का समर्थन करते हैं ।'

## [ ईश्वर साधक शेषानुमानो की दुर्बलता ]

'कार्यं सकर्तृक कार्यत्वात् ईश्वर सिद्धि के इस प्रथम अनुमान मे जिस प्रकार के दोष बताये गये हैं उसी प्रकार के दोषो के कारण अग्रिम अनुमानो भी निरस्त हो जाते है । अग्रिम अनुमानो मे दूसरे नये दोष भी है । जैसे स्वोपादानगोचर एव स्वजनकादृष्ट के अजनककृति से अजन्य समवेत जन्य मे-स्वोपादान गोचर एव स्वजनकादृष्ट के अजनक अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षाजन्यत्व का अनुमान दूसरा ईश्वरानुमान है । इस अनुमान मे यदि साध्य के शरीर मे स्वपद से द्व्यणुकादि का ग्रहण किया जायगा तो द्व्यणुकादि के उपादान का अपरोक्ष ज्ञानादि सिद्ध न होने से साध्याऽप्रसिद्धि दोष होगा । यदि स्व पद से घटादिका ग्रहण किया जायगा तो पटादि मे कार्यत्व हेतु सन्दिग्ध अनैकान्तिक होगा, क्योकि पटादि मे घटादि के उपादान को विषय करने वाले अपरोक्ष आदि ज्ञान की जन्यता सन्दिग्ध है इस अनुमान मे अप्रयोजकत्व दोष भी है, क्योंकि घटादि कार्यो के प्रति कपालादि के अपरोक्षज्ञान को कपालादिगोचरत्व रूप से ही कारणता होती है स्वोपादानगोचरत्व रूप से नहीं । अत स्वोपादान-गोचरत्व रूप से कारणता न होने से अप्रयोजकत्व दोष का होना अपरिहार्य है, क्योंकि यह शङ्का निर्विवाद रूप से की जा सकती है कि 'जिन कार्यो मे प्रस्तुत साध्य का अनुमान करना हैं वे कार्य होते हुए भी स्वोपादान गोचरत्वरूप से अपरोक्षज्ञानादि से जन्य-उसी प्रकार नहीं हो सकते जिस प्रकार घटादि ही स्वोपादान गोचरत्वरूप से अपरोक्ष ज्ञानादि से जन्य नहीं होते'–और इस शङ्का का कोई परिहार नहीं है ।

ईश्वर का तीसरा अनुमान यह है कि द्रव्य विशेष्यता सम्बन्ध से ज्ञान, इच्छा और कृति से युक्त है, क्यों कि उन मे समवाय सम्बन्ध से कार्य होता है । जैसे कपाल मे समवाय सम्बन्ध से घटरूप कार्य के होने से वह विशेष्यता सम्बन्ध से कुलाल के ज्ञान, इच्छा और कृति से युक्त होता है । इस अनुमान मे साध्य बोधक विभाग मे ज्ञान और इच्छा पद का उपादान निरर्थक है क्योंकि विशेष्यता

पञ्चमे तु क्षित्यादावकर्तृकत्वस्यैव व्यवहाराद् बाधः। 'विशेषान्वय व्यतिरेकाभ्यां कर्तृत्वेन कार्यसामान्य एव हेतुत्वग्रहान्न बाध' इति चेत् ? तर्हि शरीरचेष्टयोरप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यसामान्यहेतुत्वात् तयोरपि नित्ययोगीश्वरे प्रसक्तिः। अथ 'नित्यशरीरमिष्यत एव भगवतः। तत्र 'परमाणव एव प्रयत्नवदीश्वरात्मसंयोगाधीनचेष्टावन्त ईश्वरस्य शरीराणि'

सम्बन्ध से केवल कृति का अनुमान करने पर भी उसके आश्रयरूप मे ईश्वर की अभिमत सिद्धि हो सकती है क्योकि ईश्वर मे सपूर्ण कार्यो के उपादान को विषय करने वाली कृति के सिद्ध हो जाने पर उसके द्वारा ज्ञान और इच्छा का पृथक् अनुमान हो जाने से सपूर्ण कार्य के कर्ता ईश्वर मे सपूर्ण कार्यो के उपादान का ज्ञान और उनके उपादानो मे चिकीर्षारूप इच्छा की सिद्धि होकर ईश्वर मे सर्वज्ञतादि की सिद्धि हो सकती है। (४) सर्ग के आरम्भ काल मे विद्यमान द्रव्य विशेष्यता सम्बन्ध से ज्ञानवान है क्योकि उसमे समवायसम्बन्ध से कार्य होता है' यह पक्षतावच्छेदक सर्ग के आरम्भकाल मे द्रव्य मे ज्ञानरूप साध्य के साधन द्वारा ईश्वर का साधक चौथा अनुमान है। इस अनुमान मे मीमासकादि की दृष्टि से पक्षाऽसिद्धि दोष है। क्योकि उनके मत मे सर्ग का आरम्भकाल असिद्ध है।

## [ पचम अनुमान मे बाध दोष ]

'क्षित्यादि कार्य सकर्तृक हैं क्योकि वह कार्य है' यह अनुमान प्रकृत विचार के प्रयोजक विवाद के विषयत्व रूप से क्षित्यादि को पक्ष रूप मे विषय कर सकर्तृकत्व के साधन द्वारा ईश्वर का साधक पाचवा अनुमान है। इस अनुमान मे बाध दोष है क्योंकि क्षित्यादि मे लोकव्यवहार से अकर्तृत्व ही सिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि-'घटादि विशेष कार्य और कुलालादिविशेष कर्ता के अन्वय-व्यतिरेक से घटादि विशेष कार्य के प्रति कुलालादि विशेष कर्ता कारण है, केवल इतना ही सिद्ध न होकर 'सामान्य रूप से कार्यमात्र के प्रति सामान्य रूप से कर्ता कारण होता है' यह भी सिद्ध होता है। अत इस कार्यकारणभाव के विरोधी क्षित्यादि मे अकर्तृकत्व के व्यवहार को यथार्थ नहीं माना जाता। इसलिये इस अनुमान मे बाध दोष नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योकि ऐसा मानने पर घटादि कार्य और कुलाल का शरीर एवं कुलाल की चेष्टा आदि के अन्वय व्यतिरेक से कार्य सामान्य के प्रति सामान्य रूप से शरीर और चेष्टा की भी कारणता सिद्ध होती है और इस कार्यकारणभाव के आधार पर ईश्वर मे नित्य शरीर और नित्य चेष्टा की भी प्रसक्ति हो सकती है।

इस सम्बन्ध मे यदि यह कहा जाय कि-भगवान को नित्य शरीर होना इष्ट ही है। इसी लिये कुछ लोगो की यह मान्यता है कि परमाणु ही ईश्वर के शरीर हैं क्योकि उनमे ईश्वर के प्रयत्न से चेष्टा उत्पन्न होती है और यह नियम है कि जिस पुरुष के प्रयत्न से जिसमे चेष्टा उत्पन्न होती है वह उस पुरुष का शरीर होता है। यह ज्ञातव्य है कि प्रयत्न समवाय सम्बन्ध से पुरुष मे रहता है न कि शरीर मे। अत वह समवाय सम्बन्ध से शरीर मे चेष्टा का उत्पादक न होकर स्वाश्रय सयोग सम्बन्ध से चेष्टा का उत्पादक होता है। स्वका अर्थ है प्रयत्न-उसका आश्रय होता है आत्मा और उसका सयोग होता है शरीर मे, अत उस सयोग के द्वारा प्रयत्न को उस शरीर मे चेष्टा को उत्पन्न करने मे कोई बाधा नहीं होती। दूसरे विद्वानो का कहना है-केवल वायु के परमाणु ही ईश्वर के शरीर है क्योकि उनमे ईश्वर प्रयत्न से क्रिया चेष्टा का उदय सदैव होता रहता है। अत एव उन्हें

इत्येके । 'वायुपरमाणव एव नित्यक्रियावन्तस्तथा, अत एव तेषां सदागतित्वम्' इत्यन्ये । "आकाशशरीरं ब्रह्म" इति श्रुतेः 'आकाशस्तच्छरीरम्' इत्यपरे । चेष्टाया नित्यत्वे तु मानाभावः, नित्यज्ञानसिद्धौ तु श्रुतिरपि पक्षपातिनी "नित्यं विज्ञानं०" इत्यादिकाः, अत एव ज्ञानत्वावच्छेदेनाऽऽत्म-मनोयोगजन्यत्वं न बाधकमि'ति चेत् ? न, ईश्वरसंबन्धस्य सर्वत्राऽविशेषेण 'इदमेवेश्वरशरीरम्' इति नियमाऽयोगात्, चेष्टाया अपि ज्ञानवदेकस्या नित्यायाश्च स्वीकारौचित्यात्, उक्तश्रुतेस्त्वदभिमतेश्वरज्ञानाऽपक्षपातित्वाच्च, अन्यथाऽऽनन्दोऽपि तत्र सिध्येत ज्ञाना-ऽऽनन्दभेदश्चेति दिग् ।

आयोजनादपि नेश्वरसिद्धिः, ईश्वराधिष्ठानस्य सर्वदा सत्त्वेऽप्यदृष्टविलम्बादेवाऽऽद्याणुक्रियाविलम्बात् तत्र तद्धेतुत्वावश्यकत्वात् । दृष्टकारणसत्त्व एवादृष्टविलम्बेन कार्याविलम्बात् ,

सदागतिशील भी कहा जाता है । कुछ विद्वानो का यह मत है कि 'आकाश शरीर ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार आकाश ही ईश्वर का शरीर है और वह नित्य हे । इस प्रकार विद्वानो की दृष्टि मे ईश्वर का नित्य शरीर सयुक्त होना युक्तिसङ्गत ही है । हा, उसमें नित्य चेष्टा का अभ्युपगम नहीं किया जा सकता है क्योंकि चेष्टा की नित्यता मे कोई प्रमाण नहीं है । चेष्टा के समान ज्ञान मे अनित्यता की सिद्धि नहीं बता जा सकती क्योंकि ज्ञान की नित्यता 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियो से सिद्ध है । इन श्रुतियो के कारण ही सपूर्ण ज्ञान मे आत्म मनोयोग की जन्यता को बाधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सपूर्ण ज्ञान को आत्ममनोयोगजन्य मानने मे ये श्रुतिया ही बाधक है ' तो यह कथन भी ठीक नही है क्योंकि ईश्वर के विभु होने से उसका सम्बन्ध सभी द्रव्या मे समान रूप से विद्यमान है अत यह कहना—परमाणु हो अथवा वायु परमाणु हो या आकाश हो ईश्वर का शरीर है—ठीक नहीं हो सकता । इसी प्रकार ज्ञान के समान एक नित्य चेष्टा की कल्पना भी उचित हो सकती है । क्योंकि जैसे जीवो मे ज्ञान क अनित्य होने पर भी ईश्वर मे लाघव की दृष्टि स एक नित्यज्ञान की कल्पना होती हैं उसी प्रकार जीवो के अनित्य शरीर मे अनित्य चेष्टा होने पर भी ईश्वर के नित्य शरीर मे एक नित्य चेष्टा मानने में कोइ बाधा नहीं हो सकती । चेष्टा और ज्ञान की असमानता बताते हुए ज्ञान की नित्यता मे जो श्रुति प्रमाण रूपमे प्रसिद्ध की गइ हैं उस से ईश्वर मै नैयायिक के मतानुसार ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि वह श्रुति ईश्वर मे ज्ञान के अभेद का प्रतिपादन करती है न कि ज्ञान की आश्रयता का । यदि उसमे ईश्वर मे ज्ञान की सिद्धि होगी तो उसी से ईश्वर मे आनन्द की भी सिद्धि हो सकती हैं जो नयायिको को मान्य नहीं है । एव उस श्रुति मे ज्ञान और आनन्द शब्द का पृथक् उपादान होने से ज्ञान और आनन्द का भेद भी सिद्ध होगा । जब कि ईश्वर मे ज्ञान से भिन्न आनन्द की सत्ता नैयायिको को मान्य नहीं है ।

## (अदृष्ट से ही आद्यपरमाणुक्रिया की उपपत्ति)

(६) आयोजन='प्रथम द्वयणुक के आरम्भक सयोग को उत्पन्न करनेवाले परमाणुकर्म' से भी ईश्वर कि सिद्धि नहीं हो उसकती, क्योंकि वत कर्म मे प्रयत्नजन्यत्व का अनुमान कर उस प्रयत्न के आश्रयरूप मे ही ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है । किन्तु उक्त कर्म मे ईश्वरप्रयत्नजन्यत्व मानना सभव नहीं

अदृष्टस्य दृष्टाऽघातकत्वात्, चेष्टात्वस्याऽनुगतत्वेनोपाधित्वाच्च । तदवच्छिन्न एव हि जीवन-यत्नव्यावृत्तेन प्रवृत्तित्वेन गमनत्वादिव्याप्यत्वे तु विलक्षणयत्नत्वेनैव हेतुत्वात् क्रियासामान्ये यत्नत्वेन हेतुत्वे मानाभावात, 'यद्विशेषयोः०' इत्यादिन्याये मानाभावात् ।

है क्योकि उक्त कर्म की उत्पत्ति नियत समय मे ही होती हैं। यदि ईश्वर पयत्न से उसकी उत्पत्ति मानी जाय तो उस मे प्रयत्नवान् ईश्वर का सदैव सयोग होने से नियतकाल मे ही उस की उत्पत्ति न होकर पूर्वकाल मे भी उस की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। अत अदृष्ट के विलम्ब मे ही परमाणुगत आद्य कर्म की उत्पत्ति मे विलम्ब मानना होगा। और वह तभी हो सकता है कि जब अदृष्ट को उस कर्म का कारण माना जाय। और जब अदृष्ट उस कर्म का कारण होगा तो उसीसे उसकी उत्पत्ति सभव हो जाने के कारण उसके प्रति ईश्वर का प्रयत्न कारण न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि—"अदृष्ट के विलम्ब से कार्य का विलम्ब अप्रमाणिक है क्योकि कार्य के दृष्टकारणो के उपस्थित होने पर अदृष्ट के विलम्ब से कभी भी कार्य मे विलम्ब नहीं देखा जाता'-तो यह ठीक नहीं है क्योकि जिस कार्य के जो जो दृष्ट कारण प्रमाणसिद्ध होते हैं उन सभी कारणों के रहने पर ही अदृष्ट के विलम्ब से कार्य में विलम्ब होना अप्रमाणिक है क्योंकि यदि उस दशा में भी अदृष्ट के विलम्ब से कार्य में विलम्ब होगा तो उस कार्य के प्रति अदृष्ट मात्र को कारण मान लेने से दृष्ट कारणो का विघात हो जायगा। जब कि अदृष्ट से दृष्ट कारणो का विघात किसी को भी मान्य नहीं है। अत जिस काय का कोई ऐसा दृष्टकारण सिद्ध नहीं है कि जिसके विलम्ब से उस कार्य की उत्पत्ति मे विलम्ब हो सके तब भी उस कार्य की उत्पत्ति मे भी यदि विलम्ब होता है तो उसे अदृष्ट के विलम्ब से ही उपपन्न करना होगा। परमाणु के आद्य कर्म का कोई ऐसा दृष्टकारण सिद्ध नहीं हैं कि जिस के विलम्ब से उस की उत्पत्ति मे विलम्ब माना जाय। अत अदृष्ट के विलम्ब से ही उस की उत्पत्ति मे विलम्ब मानना होगा, इस प्रकार नियत समयमे कार्योन्मुख होने वाले अदृष्ट से ही नियतकाल मे परमाणु के आद्य कर्म की उत्पत्ति का संभव होने से उसके कारणरूपमे ईश्वरप्रयत्न की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस के अतिरिक्त प्रस्तुत अनुमान मे चेष्टात्व उपाधि भी है क्योकि यत्नजन्य सभी कर्मों मे चेष्टात्वरूप एक अनुगत धर्म रहता है और कर्मत्वरूप साधन के आश्रयभूत द्वयणुकारम्भक परमाणु के आद्यकम मे नहीं रहता है अत वह कर्मत्वरूप साधन से अवच्छिन्न(=विशिष्ट)प्रयत्नजन्यत्वरूप साध्य का व्यापक और कर्मत्वरूप साधन का अव्यापक उपाधि है।

प्रस्तुत अनुमान इसलिए भी नहीं हो सकता कि वह क्रियासामान्य और प्रयत्नसामान्य के जिस कार्यकारणभाव को अधीन है उस कार्यकारणभाव मे कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि क्रिया को दो वर्गों मे बांटा जा सकता है, जैसे जीवनयोनियत्न=जीवनादृष्टकारणक प्रयत्न' से होने वाली प्राण अपानादि की क्रियाएँ और अन्य प्रयत्नो से होनेवाली चेष्टात्मकक्रियाएँ उन मे प्रथमवर्ग की क्रिया के प्रति जीवन-योनि यत्न ही कारण है और द्वितीयवर्ग की क्रिया-चेष्टा के प्रति प्रवृत्ति कारण है। द्वितीयवर्ग की क्रिया की कारणता का अवच्छेदकभूत प्रवृत्तित्व जीवनयोनि से भिन्न सभी यत्नो का धर्म है। अत एव प्रवृत्ति को द्वितीयवर्ग की समस्तक्रियाओं का कारण मानने पर पलायन आदि क्रियाओं मे उस का व्यभिचार नहीं हो सकता क्योकि पलायनादि क्रियाएँ जिस प्रयत्न से होती है वह भी प्रवृत्ति नामक प्रयत्न के अन्तर्गत आ जाता है। यदि द्वितीय वर्ग की क्रियाओं को गमनादि

धृतेरपि नेश्वरसिद्धिः, गुरुत्ववत्पतनाभावमात्रस्य गुरुत्वेतरहेत्वभावप्रयुक्तस्याऽऽम्रफलादावेव व्यभिचारित्वात् । प्रतिबन्धकाभावेतरसामग्रीकालीनत्वविशेषणेऽपि वेगवदिषुपत-

अनेक व्याप्य क्रियाओ के रूप मे वर्गीकृत किया जाय तो गमनादि रूप तत्तत् क्रियाओ क प्रति विजातीविजातीय रूप से जीवन योनिभिन्न प्रयत्न कारण होगा, अत क्रिया सामान्य के प्रति प्रयत्नसामान्य को कारणता नहीं सिद्ध होगी। 'जिन कार्यकारणो मे विशेष रूप से कार्यकारणभाव होता है उन मे सामान्यरूप से भी कार्यकारणभाव होता है' इस न्याय मे कोई प्रमाण नहीं होने से इस न्याय के बल से भी क्रिया और प्रयत्न मे सामान्यरूप से कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता है, अत उसके आधार पर प्रस्तुत अनुमान का समर्थन अशक्य है ।

( धृति हेतु ईश्वरसिद्धि में अनैकान्तिक)

(६) धृति से भी ईश्वर की अनुमानिक सिद्धि नहीं हो सकती क्योकि धृति का अर्थ है गुरुत्व के आश्रयभूत द्रव्य के पतन का अभाव, और उस से ईश्वरानुमान तभी हो सकता है जब इस प्रकार की व्याप्ति बने कि गुरु द्रव्य के पतन का जो ही अभाव होता है वह गुरुत्व से इतर, पतन कारण के अभाव से प्रयुक्त होता है'। किन्तु यह व्याप्ति नहीं बन सकती। क्योकि वृक्ष की शाखा मे लगे हुए आम्रफल मे व्यभिचार है। आशय यह है कि आम्रफल गुरुद्रव्य है। किन्तु जब वह शाखाग्र मे लगा हुआ होता है तब उस मे पतन का अभाव होता है पर उसमे गुरुत्व से इतर पतन के किसी हेतु का अभाव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-"शाखाग्र वृन्त के साथ आम्रफल का संयोग भी आम्रफल के पतन का प्रतिबन्धक है-इसलिये गुरुत्व से इतर पतन का कारण हुआ 'वृन्त के साथ आम्रफल के सयोग का अभाव और उसका अभाव हुआ वृन्त के साथ आम्रफल का सयोग, आम्रफल का पतनाभाव' उस सयोग से प्रयुक्त है अत आम्रफल मे उक्त व्याप्ति का व्यभिचार बताना असङ्गत है-" तो यह कथन ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योकि वृन्तके साथ आम्रफल के सयोग को आम्रफल के पतन का प्रतिबन्धक नहीं कहा जा सकता, क्योकि वह यदि प्रतिबन्धक होगा तो उस का अभाव होने पर ही आम्रफल का पतन होना चाहीए किन्तु ऐसा नहीं होता। अपितु आम्रफल मे पतनाख्य कर्म पहले उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उस कर्म से वृन्त के साथ आम्रफल का विभाग होकर वृन्त के साथ आम्रफल के सयोग का ध्वसात्मक अभाव निष्पन्न होता है। साराश, न्यायमतप्रक्रियानुसार पतनकर्म पहले हुआ, व सयोगाभाव बाद मे हुआ । तो पतन में सयोगाभाव कारण कहा बना ?

यदि यह कहा जाय कि-'आम्रफल मे जो पतनकर्म होगा वह वेगवान् वायु अथवा वेगवान् दण्डादिके अभिघात से उत्पन्न होगा। जिस समय यह अभिघात उपस्थित नहीं है उस समय मे आम्रफल का पतनाभाव गुरुत्व से इतर पतन के कारणभूत उस अभिघात के अभाव से ही प्रयुक्त होगा। अतः आम्रफल के पतनाभाव मे गुरुत्वेतर पतनकारण के अभाव का प्रयुक्तत्व होने के कारण आम्रफल मे व्यभिचार का प्रदर्शन फिर भी असङ्गत हैं'-तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योकि उक्त अभिघात पतन का कारण नहीं, किन्तु सामान्य कर्म का कारण है, क्योकि वेगवान वायु या दण्डादि के अभिघात से भूतल मे एक स्थान मे स्थित गुरुद्रव्य का स्थानान्तर मे अपसर्पण भी होता है, जिसे पतन नहीं कहा जा सकता। अत. उक्त अभिघात से आम्रफल मे जो सामान्य कर्म उत्पन्न होता है वह आम्रफल

'निरालम्बा निराधारा विश्वाधारा वसुन्धरा । यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यद् न कारणम् ॥"

युक्तं चैतत्, ईश्वरप्रयत्नस्य व्यापकत्वेन समरेऽपि शरपाताऽनापत्तेः । पतनाभावावच्छिन्नेश्वरप्रयत्नस्य तथात्वे तादृशज्ञानेच्छाभ्यां विनिगमनाविरहात् क्लृप्तजातीयस्याऽदृष्टस्यैव ब्रह्माण्डधारकत्वकल्पनौचित्यात् । न चात्माऽविभुत्ववादिनः संबन्धानुपपत्तिः, असंबद्धस्यापि तत्कार्यजननशक्तस्य तत्कार्यकारित्वात्, अयस्कान्तस्याऽसंबद्धस्यापि लोहाऽऽकर्षकत्वदर्शनादिति, अन्यत्र विस्तरः । प्रयत्नस्य तु विलक्षणप्रयत्नत्वेन पतनप्रतिबन्धकसंयोगविशेष एव हेतुत्वम् ।

पतनकारणाभावप्रयुक्तत्व का अनुमान करके भी ईश्वर की सिद्धि नही की जा सकती क्योकि ब्रह्माण्ड की धृति मे भी अदृष्टप्रयुक्तत्व होने से उस मे अदृष्टाऽप्रयुक्तत्व विशेषणविशिष्ट उक्त धृतित्वरूपहेतु स्वरूपाऽसिद्ध हो जाता है ।

इसीलिये श्रीहेमचन्द्रसूरिने कहा है कि- विश्व की आधारभूत पृथ्वी बिना किसी आलम्बन और आधार किसी एक निश्चित स्थान मे स्थिर रहती है, वहा से उसका पतन नही होता उस मे धर्म से अतिरिक्त और कोई कारण नही है' । इस प्रकार ब्रह्माण्ड धृति के धर्म रूप अदृष्ट से प्रयुक्त होने के कारण उसमे अदृष्टाऽप्रयुक्तत्वविशिष्ट उक्त धृतिस्वरूप हेतु की स्वरूपाऽसिद्धि निर्विवाद है । यही युक्तिसङ्गत भी है, क्योकि यदि ईश्वर प्रयत्न को ब्रह्माण्ड पतन का प्रतिबन्धक माना जायगा तो व्यापक होने के कारण वह सङ्ग्रामभूमि मे भी रहेगा । अत उस भूमि मे सैनिको द्वारा प्रक्षिप्त बाणो का पतन भी न हो सकेगा क्योकि ईश्वर का जो प्रयत्न ब्रह्माण्ड के पतन को रोक सकता है वह सामान्य बाण के पतन को क्यो न रोक सकेगा ? यदि यह कहा जाय कि-'प्रतियोगिव्यधिकरण पतनाभाव विशिष्ट ईश्वर प्रयत्न ही पतन का प्रतिबन्धक है । अतः ईश्वरप्रयत्न से बाण के पतन का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता । क्योकि बाण मे प्रतियोगिव्यधिकरणपतनाभाव नहीं रहता । ब्रह्माण्ड का कभी भी पतन न होने से उस मे प्रतियोगिव्यधिकरणपतनाभाव रहता है । अत एव ब्रह्माण्ड मे प्रतियोगीव्यधिकरणपतनाभाव विशिष्ट ईश्वर प्रयत्न के रहने से वह ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धक हो सकता है'-तो यह ठीक नहीं है । क्योकि प्रतियोगिव्यधिकरणपतनाभावविशिष्ट प्रयत्न ही ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धक हो उस मे कोई विनिगमना न होने से प्रतियोगिव्यधिकरणपतनाभावविशिष्ट ज्ञान और इच्छा को भी प्रतिबन्धक मानना आवश्यक होगा । इसलिये ज्ञान, इच्छा प्रयत्न ये तीन को ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धक मानने की अपेक्षा अदृष्ट को ही ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धक मानना उचित है, क्योकि अदृष्ट मे जीवित शरीर के पतन की प्रतिबन्धकता सिद्ध है । अतः एव अदृष्ट मे पतनप्रतिबन्धकतात्व की कल्पना अपूर्व नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-'अदृष्ट ब्रह्माण्ड का धारक नहीं हो सकता क्योकि अदृष्ट जीवात्मा मे रहता है । अत॰ जिस मत मे जीवात्मा विभु नहीं होता उस मत मे जीवात्मा मे रहनेव ले अदृष्ट का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड के साथ नही हो सकता और जब ब्रह्माण्ड से अदृष्ट का सम्बन्ध नहीं बन सकता तब उसे ब्रह्माण्ड का धारक कैसे माना जा सकता ?'-तो यह ठीक नहीं है क्योकि जो जिस कार्य को उत्पन्न करने मे समर्थ होता है वह उस कार्य के उत्पत्ति देश से असम्बद्ध होने पर भी

ब्रह्माण्डनाशकतयापि नेश्वरसिद्धिः, प्रलयाऽनभ्युपगमात्, अहोरात्रस्याऽहोरात्रपूर्वकत्वव्याप्यत्वात्। न च वर्षादिनत्वेनाऽव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वकत्ववदत्राऽव्यवहितसंसारपूर्वकत्वमुपाधिः, राशिविशेषे वर्षादिनस्य हेतुत्वेन तत्रानुकूलतर्केणोपाधेः साध्यव्यापकत्वग्रहेऽप्यनुकूलतर्काभावेन प्रकृत उपाधेरसमर्थत्वात्, कालत्वस्य भोग्यव्याप्यत्वाच्च। कर्मणां विषमविपाकतया युगपद् निरोधाऽसंभवात्, सुषुप्तौ कतिपयाऽदृष्टनिरोधस्य दर्शनावरणरूपाऽदृष्टसामर्थ्यादेवोपपत्तेर्बलवताऽदृष्टान्तरप्रतिरोधदर्शनात्, प्रलये तु कथं तादृशादृष्टं विनाऽदृष्टनिरोधः स्यात्? अन्यथा त्वनायाससिद्धो मोक्षः इति किं ब्रह्मचर्यादिक्लेशानुभवेन? इत्यन्यत्र विस्तरः।

उस कार्य को उत्पन्न करता है। जैसे लोहखण्ड से असम्बद्ध भी अयस्कान्तमणि (लोहचुम्बक) लोहखण्ड में आकर्षण उत्पन्न करता है। अत. कार्य के उत्पत्ति देश से सम्बद्ध ही कारण कार्य का उत्पादक होता है इस नियम के सार्वत्रिक न होने के कारण ब्रह्माण्ड से असम्बद्ध भी जीव का अदृष्ट ब्रह्माण्ड का धारक हो सकता है। इस विषय का विस्तृत विचार ग्रन्थान्तर मे द्रष्टव्य है।

यह भी ज्ञातव्य है कि प्रयत्न कहीं भी स्वय पतन का प्रतिबन्धक नहीं बनता। किन्तु विलक्षण प्रयत्न के रूप मे पतन के प्रतिबन्धक सयोग विशेष को ही उत्पन्न करता है। पतन का प्रतिबन्ध तो उस सयोग से ही होता है। जैसे आकाश मे उडते हुए पक्षी के शरीर के पतन का प्रतिबन्ध पक्षी शरीर के साथ पक्षीकी आत्मा के सयोग से होता है और वह सयोग पक्षी के प्रयत्न से उत्पन्न होता है। सभी प्रयत्न पतन के प्रतिबन्धक सयोग को नहीं उत्पन्न करते किन्तु विलक्षण प्रयत्न ही उत्पन्न करता है। अन्यथा जीवित प्राणी का वृक्ष भवन पर्वत आदि से कभी भी पतन न होता। ईश्वर का प्रयत्न एक ही होता है। अत' उस मे वैजात्य की कल्पना नहीं हो सकती। अत एव उस से पतन के प्रतिबन्धक सयोग की उत्पत्ति सभव नहीं हो सकती। इसलिये ईश्वरप्रयत्न को ब्रह्माण्ड का धारक मानना न्यायसङ्गत नहीं हो सकता।

## [प्रलय के अस्वीकार से ईश्वरसिद्धि निरसन]

ब्रह्माण्ड-नाशक के रूप मे भी ईश्वर की आनुमानिक सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्माण्ड का नाश प्रलय की मान्यता पर निर्भर है और प्रलय अप्रामाणिक होने से असिद्ध है। अतः आश्रयासिद्धि दोष के कारण ब्रह्माण्डनाश को पक्ष बनाकर कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि-"ब्रह्माण्ड का नाश अनुमान से सिद्ध है। जैसे 'ब्रह्माण्ड नश्वरम् (=नाशप्रतियोगी) जन्यभावत्वात् घटादिवत्।' यह अनुमान ब्रह्माण्डनाश मे प्रमाण है। अत ब्रह्माण्डनाशपक्षक अनुमान में आश्रयाऽसिद्धि नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्माण्ड मे नाशप्रतियोगीत्व के उक्त अनुमान का बाधक अनुमान विद्यमान है जैसे विवादास्पद अहोरात्र अव्यवहित अहोरात्र पूर्वक है। क्योंकि जो भी अहोरात्र होता है वह सब अहोरात्रपूर्वक होता है। यदि ब्रह्माण्ड का नाश माना जायगा तो अग्रिम ब्रह्माण्डमे होनेवाले प्रथम अहोरात्र मे अव्यवहित अहोरात्र पूर्वकत्व न होने से सभी अहोरात्र अहोरात्रपूर्वक होते है इस व्याप्ति का भङ्ग हो जायगा। अतः किसी भी अहोरात्र को प्रथम

अहोरात्र नहीं माना जा सकता। और यह तभी हो सकता है जब अहोरात्र की परपरा अविच्छिन्न बनी रहे और वह तभी बनी रहती है जब ब्रह्माण्ड का नाश न हो। अत. इस अनुमान से ब्रह्माण्ड के नाश का अनुमान बाधित हो जाता है। इसलिए आश्रयाऽसिद्धि के कारण ब्रह्माण्डनाशपक्षक अनुमान का होना सर्वथा असभव है।

[ अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व उपाधि की शंका ]

यदि यह कहा जाय कि—जैसे वर्षादिनत्व हेतु से प्रथम कहे जाने वाले वर्षादिन मे अव्यवहित वर्षादिन पूर्वकत्व का साधन करने पर 'राशिविशेष मे रविपूर्वकत्व'रूप उपाधि होने से वर्षादिनत्व मे अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्व की व्याप्ति नहीं होती। उसी प्रकार अहोरात्रत्व हेतु से प्रथम कहे जाने वाले अहोरात्र मे अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व का साधन करने पर भी अव्यवहितससारपूर्वकत्वरूप उपाधि होने से अहोरात्रत्व मे अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व की व्याप्ति नहीं हो सकती। आशय यह है कि राशिविशेष (सभवतः सिंहराशि) से सूर्य के सम्बन्ध के साथ वर्षादिन का आरम्भ होता है। अत एव प्रथम वर्षादिन के पूर्व रवि राशिविशेष से सम्बद्ध नहीं होता। अतः राशिविशेषावच्छिन्न रविपूर्वकत्व आद्यवर्षादिन मे वर्षादिनत्वरूप साधन का अव्यापक होता है और द्वितीय-तृतीयादि वर्षादिन मे अव्यवहित वर्षादिनपूर्वकत्व तथा राशिविशेषावच्छिन्नपूर्वकत्व दोनो के रहने से राशिविशेषावच्छिन्नपूर्वकत्व अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वरूप साध्य का व्यापक होता है। इसलिए वर्षादिनत्व मे अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्व की व्याप्ति नहीं होती क्योंकि वर्षादिनत्व अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्व के व्यापक राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वकत्व का व्यभिचारी होने से अव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्व का भी व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि व्यापक का व्यभिचार व्याप्य व्यभिचार से नियत होता है। इसी प्रकार जिन अहोरात्रो मे अव्यवहित अहोरात्र पूर्वकत्व सर्वसम्मत है उनमे अव्यवहितससार पूर्वकत्व है क्योंकि उन अहोरात्रो के पूर्व अहोरात्र विद्यमान है और अहोरात्र ससार रहने पर ही होता है। अतः उन अहोरात्रो मे अव्यवहितससारपूर्वकत्व का होना अनिवार्य है अत. अव्यवहितससारपूर्वकत्व अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व रूप साध्य का व्यापक होता है। अहोरात्रत्वरूप साधन अभिनव ब्रह्माण्ड के आद्य अहोरात्र मे भी है किन्तु उसके पूर्व ससार न होने से उसमे अव्यवहित संसारपूर्वकत्व नहीं है, अत एव अव्यवहितससारपूर्वकत्व अहोरात्रत्वरूप साधन का अव्यापक है। इसलिए अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व के व्यापक अव्यवहितससारपूर्वकत्व का व्यभिचारी हो जाने के कारण अहोरात्रत्वरूप साधन अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्वरूप साध्य का व्यभिचारी हो जायगा। अतः अहोरात्रत्वहेतु से समस्तअहोरात्र मे अव्यवहितअहोरात्रपूर्वकत्व का अनुमान करके प्रलय का खण्डन नहीं किया जा सकता।

[ उपाधि की शका तर्क शून्य है ]

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, राशि विशेष वर्षादिन का कारण होता है। अतः एव राशिविशेष के साथ सूर्य का सम्बन्ध और वर्षादिन की एक साथ प्रवृत्ति होती है। इसलिये अग्रिम वर्षादिन राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वक हो जाता है। यदि किसी अव्यवहितवर्षादिनपूर्वक वर्षादिन को राशिविशेषावच्छिन्नरविपूर्वक न माना जायगा तो उस वर्षा दिन के अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्षादिन राशिविशेष से अवच्छिन्न नहीं है यह मानना होगा और यह तब होगा जब उस वर्षादिन के पूर्व राशिविशेष का प्रवेश न हो। और ऐसा मानने पर वर्षादिन के प्रति राशिविशेष की कारणता का भङ्ग

एतेन 'आद्यव्यवहारादीश्वरसिद्धिः, प्रतिसर्गं मन्वादीनां बहूनां व्यवहारप्रवर्तकानां कल्पने गौरवादेकस्यैव भगवतः सिद्धेः'इत्यपास्तम् , सर्गादेरेवाऽसिद्धेः, इदानीमिव सर्वदा पूर्वपूर्वव्यवहारेणैवोत्तरोत्तरव्यवहारोपपत्तेः । यदि तु सर्गादिरुपेयते, तदा तदानीं प्रयोज्यप्रयोजकवृद्धयोरभावात् कथं व्यवहारः ?

मान लिया जायगा तो जीवमात्र को अनायास ही मोक्ष मील जायगा । फिर ब्रह्मचर्यादि पालन का कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । फलतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्यादि का उपदेश शास्त्रो में किया गया है वह निरर्थक हो जायगा ।

इस विषय का विस्तृत विचार ग्रन्थान्तर में द्रष्टव्य है ।

[ सर्गादि की असिद्धि से आद्य व्यवहारादिकथन की व्यर्थता ]

घटपटादि अर्थो मे घटपट आदि शब्दो के प्रयोगरूप व्यवहार के प्रथमप्रवर्त्तक रूप मे भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योकि 'भिन्नभिन्न सृष्टि में मनुआदि अनेक पुरुषो को व्यवहार का प्रवर्तक मानने में गौरव होगा और सभी सृष्टि मे एकमात्र ईश्वर को ही प्रवर्त्तक मानने मे लाघव होगा' इस प्रकार ईश्वर की कल्पना का आपातत. औचित्य प्रतीत होने पर भी वास्तव दृष्टि से उक्तरीति से ईश्वर की कल्पना उचित नहीं हो सकती, क्योकि सृष्टि का आरम्भ ही किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता । अपितु यही कल्पना उचित प्रतीत होती है कि जैसे इस समय के व्यवहार अपने पूर्व व्यवहारो से ही सम्पन्न होते है उसी प्रकार सपूर्ण समय के व्यवहार अपने पूर्व व्यवहारो से ही सम्पन्न होते हैं । और ऐसा मानने पर कोई आद्य व्यवहार सिद्ध न होने से व्यवहार के आद्य प्रवर्त्तक की कल्पना की सभावना ही समाप्त हो जायगी ।

[ सर्ग के प्रारम्भ मे व्यवहार की असिद्धि ]

इस सदर्भ मे यह भी विचारणीय है कि यदि सृष्टि का आरम्भ माना जायेगा तो उस समय प्रयोज्य और प्रयोजक वृद्ध के न होने से व्यवहार कैसे प्रवर्तित हो सकेगा ? कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टिकाल मे व्यवहार का प्रवर्तन प्रयोज्य और प्रयोजकवयस्थ पुरुषो द्वारा होता है, जैसे-जब कोई वयस्थ व्यक्ति किसी बालक को व्यवहार की शिक्षा देना चाहता है तब वह उस बालक को पास में बिठाकर अपने किसी कनिष्ठ वयस्थ व्यक्ति को आदेश देता है कि 'घडा ले आओ या घडा ले जाओ'। कनिष्ठ वयस्थ व्यक्ति जिसे प्रयोज्य वृद्ध कहा जाता है, उस आदेश वाक्य को सुनकर घट को ले आता है या ले जाता है । पास मे बैठा हुआ बालक प्रयोज्यवृद्ध के घट आनयन को देखकर उसके कारणरूप मे प्रयोज्यवृद्ध के घटानयन मे कर्त्तव्यता के ज्ञान का अनुमान करता है और फिर उस वाक्य मे उस ज्ञान की कारणता का अनुमान करता है । उस के बाद ज्येष्ठ वयस्थ व्यक्ति जिसे प्रयोजकवृद्ध कहा जाता है यह आदेश देता है कि 'घट नय पटमानय' और प्रयोज्य वृद्ध घट को हठा कर पट का आनयन करता है तब बालक यह अनुमान करता है कि 'घटमानय' इस वाक्य के भीतर जो घट शब्द है वही घट ज्ञान का जनक है क्योंकि आनय' शब्द के साथ जब घट शब्द था तब प्रयोज्य वृद्ध को घटानयन मे कर्तव्यता का ज्ञान हुआ और जब 'आनय'शब्द के साथ घट शब्द नहीं था किन्तु पट शब्द था तब घटानयन मे कर्तव्यता का ज्ञान नहीं हुआ । इस प्रकार वह घटशब्द के आवाप अर्थात् आनय शब्द के साथ उस का प्रयोग और घटशब्द के उद्‌वाप अर्थात् आनय शब्द के साथ उस

अथ 'यथा मायावी सूत्रसंचारांधिष्ठितदारुपुत्रक 'घटमानय' इत्यादि नियोज्य घटाऽऽनयनं संपाद्य बालकस्य व्युत्पत्तौ प्रयोजकः, तथेश्वरोऽपि प्रयोज्य-प्रयोजकवृद्धीभूय व्यवहारं कृत्वाऽऽद्यव्युत्पत्तिं कारयति। न चात्र चेष्टया प्रवृत्तिम्, तया ज्ञानम्, तज्ज्ञाने उपस्थितवाक्यहेतुत्वम्, तज्ज्ञानविषयपदार्थे चाऽऽवापोद्वापाभ्यां तत्तत्पदज्ञानहेतुत्वमनुमाय तत्तत्पदे तत्तदर्थज्ञानानुकूलत्वेन तत्तदर्थसंबन्धवत्त्वमनुमेयम्, एवं चाऽयं संबन्धग्रहो भ्रमः स्यात, जनकज्ञानस्य भ्रमत्वात् इति वाच्यम्, तत्त्वेऽपि विषयाऽबाधेन प्रमात्वात, चरम-परामर्शस्य प्रमात्वसंभवाच्च। एवमीश्वर एव कुलालादिशरीरं परिगृह्य घटादिसंप्रदायप्रवर्तकः। अत एव श्रुतिः '(नमः) कुलालेभ्यो; नमः कर्मारेभ्यः' इत्यादीति।" चेत्?

---

के अप्रयोग से बालक यह अनुमान करता है कि घट शब्द घट का बोधक है और उस के बाद 'घट शब्द से ही घट का बोध होता है, पट शब्द से क्यों नहीं होता'? ऐसा विचार करते हुए यह अनुमान करता है कि घटशब्द घटरूप अर्थ से सम्बद्ध है और पटशब्द घटरूप अर्थ से सम्बद्ध नहीं है। इस निश्चय के अनन्तर बालक कालान्तर मे स्वयं घट का बोध कराने के लिये स्वयं घट शब्द का व्यवहार करने लगता है और अन्य द्वारा घट शब्द का व्यवहार होने पर स्वयं घट का ज्ञान प्राप्त करने लगता है। इस प्रकार प्रयोज्य और प्रयोजक वृद्धो के द्वारा व्यवहार का प्रवर्तन होता है किन्तु यदि सृष्टि का आरम्भ माना जायेगा तो उस समय प्रयोज्य और प्रयोजक वृद्ध न होने से शब्द व्यवहार का प्रवर्तन नहीं हो सकेगा।

### [ मायाजालिक के समान ईश्वर को शिक्षा-पूर्वपक्ष ]

यदि यह कहा जाय-कि जैसे मायावी पुरुष जब अकेला होता है उसके साथ कोई कनिष्ठ वयस्य व्यक्ति नहीं होता और वह कोई किसी बालक को व्यवहार सिखाना चाहता है तब वह कनिष्ठवयस्य के स्थान मे एक लकडी का मनुष्य बना लेता है और उसको सूत मे इस प्रकार बाध लेता है कि वह उस सूत्र के द्वारा गतिशील हो सके और तब वह 'घटमानय' इस शब्द का प्रयोग करके सूत्र के सचालन से उस काष्ठ निर्मित्त पुरुष के द्वारा घटानयन का संपादन कर बालक को घट शब्द के व्यवहार की शिक्षा देता है। तो जैसे मायावी काष्ठ से बने हुए मनुष्य को प्रयोज्य वृद्ध के स्थान मे रखकर व्यवहार की शिक्षा देता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रयोज्य और प्रयोजकशरीरो की रचना कर प्रयोजक शरीर के द्वारा 'घटमानय' इस शब्द का प्रयोग कर और प्रयोज्य शरीर द्वारा घटानयन का सपादन कर सृष्टि के आरभ काल के मनुष्य को व्यवहार की शिक्षा दे सकता है।

इस सन्दर्भ मे यह शङ्का हो कि-'उक्त क्रम से व्यवहारशिक्षा की जो पद्धति है उस के अनुसार चेष्टा से प्रवृत्ति का और प्रवृत्ति से कर्तव्यताज्ञान का और ज्ञान के प्रति उपस्थित वाक्य मे कारणता का और उस ज्ञान के विषयभूत तत्तद् पदार्थज्ञान के प्रति आवाप और उद्वाप अर्थात् क्रिया-पद के साथ तत्तद् पद का प्रयोग और अप्रयोग से तत्तद् पद मे तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है।

किन्तु इस स्थिति मे सृष्टि के आरम्भ मे प्रयोज्य और प्रयोजक शरीर का निर्माण कर उसके द्वारा ईश्वर को व्यवहार का प्रवर्तक मानने पर तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध का उक्तानुमान भ्रम होगा।

न, अदृष्टाऽभावेन प्रयोज्यादिशरीरपरिग्रहस्यैव भगवतोऽयुक्तत्वाद् , अन्यादृष्टेनाऽन्यस्य शरीरपरिग्रहे चैत्राऽदृष्टाऽऽकृष्टं शरीरं मैत्रोऽपि परिगृह्णीयात् । 'प्राण्यदृष्टेन घटादिवत् तत्तच्छरीरोत्पत्तिः, तत्परिग्रहस्तु भगवतस्तदावेश एवेति न दोष' इति चेत् ? न, घटादावतथात्वेऽपि तदीयेशरीरे तदीयाऽदृष्टत्वेनैव हेतुत्वात् , अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

क्योंकि उस अनुमान के कारणवर्ग मे प्रविष्ट होने वाली प्रवृत्ति से ज्ञान का अनुमान और उस ज्ञान के प्रति उपस्थित वाक्य मे कारणता का अनुमान आदि भ्रम है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ मे प्रयोज्य प्रयोजक शरीर का प्रयत्न और ज्ञान नित्य होता है। अतः उन मे कारण की अपेक्षा न होने से उनके कारणानुमान का भ्रम होना अनिवार्य है। और जब कारणभूत ज्ञान भ्रम है तब उसके कार्यभूत उक्तानुमान भ्रम होना स्वाभाविक है और जब तत्तद् पद मे तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध का अनुमान भ्रम ह गा तब उससे तत्तद् पद में तत्तद पदार्थ के सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि भ्रम विषय का व्यभिचारी होता है। अत भ्रम से पदार्थ की सिद्धि नही होती।'-तो इसके उत्तर मे,

यदि कहा जाए कि-यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि किसी ज्ञान का भ्रमात्मक होना उसके कारण गत दोष पर ही निर्भर नही है किन्तु ज्ञान जिस विषय को ग्रहण करता है उस विषय के व ध पर निर्भर है इसीलिये वह्नि म धूमव्याप्ति का भ्रम होने पर वह्नि से यदि महानस में धूम की अनुमिति होती है तो वह अपने कारण उक्त व्याप्तिज्ञान के भ्रमरूप होने पर भी स्वय भ्रमरूप नही होती क्योंकि महानस में धूम का बाध नही होता है, अत सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर के प्रयोज्य-प्रयोजक शरीर द्वारा उस काल के मनुष्य को जो तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध की अनुमिति होगी वह भी भ्रम नहीं हो सकती क्योंकि तत्तद् पदमे तत्तद् पदार्थ का सम्बन्ध होने के कारण उस का बाध नही है। और दूसरी बात यह है कि अनुमिति का अन्तिम कारण तो पक्षमें साध्य व्याप्य हेतु का परामर्श' होता है जिसे चरम परामर्श कहा जाता है। प्रकृतस्थल में वह परामर्श तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ सम्बन्ध व्याप्यत्वरूप से तत्तद्पदार्थज्ञानानुकूलत्वरूपहेतु का निश्चयरूप है और वह निश्चय सर्वांश में प्रमात्मक ही है अत उक्तानुमिति का जो प्रधान एव अन्तिम कारण है उसके भ्रमरूप न होने से कारण दोष द्वारा ही तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ सम्बन्ध की अनुमिति को भ्रमात्मक नहीं कहा जा सकता। अत उस अनुमिति से तत्तद् पद में तत्तद् पदार्थ के सम्बन्ध की सिद्धि में कोई बाधा नहीं हो सकती, इसी प्रकार ईश्वर कुलालादि शरीर को धारणकर घटपटादि का प्रथम निर्माण कर के घटपटादि के निर्माण की परपरारूप सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक होता है। इसीलिये श्रुति में कुलाल शब्द से उस का अभिवादन किया है तो जैसे 'नमः कुलालेभ्य' नम कर्मारेभ्यः' इत्यादि।

[ ईश्वर के शरीर ग्रहण का असभव-उत्तरपक्ष ]

सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर द्वारा व्यवहार प्रवर्तित किये जाने का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर मे अदृष्ट नहीं होता। अत एव उसके द्वारा प्रयोज्य और प्रयोजक के शरीर का ग्रहण भी युक्ति सङ्गत नही हो सकता क्योंकि शरीर का ग्रहण अपने ही अदृष्ट से होता है। यदि अन्य के अदृष्ट से भी शरीर ग्रहण की स्वीकृति की जायगी तो चैत्र के अदृष्ट से निर्मित होने वाला शरीर मैत्र द्वारा भी गृहीत हो सकेगा और उस शरीर से मैत्र को भी सुखदुखादि भोग की प्रसक्ति होगी। जब कि यह बात कथमपि मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा मानने पर तो मुक्त को भी शरीर ग्रहण का प्रसङ्ग हो सकता है।

किञ्च, कोऽयमावेशः ? तदवच्छिन्नप्रयत्न एवेति चेत् ? न, तदजन्यस्य प्रयत्नस्य तदनवच्छिन्नत्वात् । अथैवं भूताऽऽवेशानुपपत्तिः, तत्र हि भूतात्मन्येव चैत्राद्यवच्छेदेन प्रवृत्तिरङ्गीक्रियते, अन्यथा मृतशरीरे तदावेशानापत्तेरिति चेत् ? इयमपि तवैवानुपपत्तिः,

यदि यह कहा जाय कि-'शरीरग्रहण का अर्थ है शरीर के साथ भोग प्रयोजक सम्बन्ध की प्राप्ति । किन्तु इस प्रकार का शरीरग्रहण ईश्वर मे नहीं होता । अपितु जैसे प्राणियों के अदृष्ट मे घटपटादि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार प्राणियों के अदृष्ट से ही सृष्टि के आरम्भ मे तत्तत् सम्प्रदाय के प्रवर्तनार्थ विभिन्न शरीरो की भी उत्पत्ति होती है जिनके साथ ईश्वर का भोगप्रयोजक सम्बन्ध नहीं होता अपितु उन मे ईश्वर का आवेश होता है और उस आवेश से ही उन शरीरो मे चेष्टा होकर उनके द्वारा तत्तत् सम्प्रदाय का प्रवर्तन होता है । अतः सृष्टि के आरम्भ मे उत्पन्न होने वाले शरीरों का ईश्वर द्वारा इस प्रकार का ग्रहण सभव होने से उक्तदोष की प्रसक्ति नहीं हो सकती'- तो यह कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि घटादि पदार्थों और शरीरो मे वैषम्य होता है । घटादि पदार्थ किसी भी व्यक्ति के भोग के आयतन नहीं होते किन्तु भोग के दूरस्थ साधन होते है । अत उन की उत्पत्ति प्राणियो के अदृष्ट से हो सकती है, उस की उत्पत्ति मे किसी प्राणीविशेष के ही अदृष्ट की अपेक्षा नहीं होती, जब कि शरीर भोग का आयतन होता है इसीलिये भिन्न भिन्न प्राणी को पृथक् पृथक् शरीर की आवश्यकता होती है । जो शरीर जिस प्राणि विशेष के अदृष्ट से उत्पन्न होता है उस शरीर मे उसी प्राणी को भोग होता है, इसीलिये कोई भी शरीर किसी प्राणि विशेष के भोग का आयतन होने के लिये ही उत्पन्न होता है और इसीलिये तत्पुरुषीय शरीर में तत्पुरुषीय अदृष्ट को कारण माना जाता है । ऐसा न मानने पर शरीर सभी प्राणियो के भोग का आयतन हो सकने के कारण अव्यवस्था हो सकती है, अतः यह कल्पना उचित नहीं है कि-'सृष्टि के आरम्भ मे तत्तद् सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने के लिये प्राणियो के अदृष्ट से कुछ शरीरो की उत्पत्ति होती है जो भोग का आयतन नहीं होते किन्तु तत्तत् सम्प्रदाय के प्रवर्तन मे ईश्वर के सहायकमात्र होते है । और ईश्वर उन शरीरो मे आविष्ट होकर उनके द्वारा तत्तद् सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता है ।'

## ['आवेश' पदार्थ की समीक्षा)

इस सन्दर्भ मे यह भी विचारणीय है कि सृष्टि के आरम्भ मे प्राणियों मे अदृष्ट से उत्पन्न होनेवाले कतिपय शरीरो मे ईश्वर का जो आवेश होता है उस का क्या अर्थ है ? यदि कहा जाय कि तत्तद् शरीर मे आविष्ट होने का अर्थ है तत्तद् शरीरावच्छेदेन प्रयत्नशील होना' तो इस प्रकार का आवेश ईश्वर मे नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर का प्रयत्न उन शरीरो से जन्य न होने के कारण उन शरीरो से अवच्छेद्य नहीं हो सकता । क्योंकि यह नियम है कि जो प्रयत्न जिस शरीर से उत्पन्न होता है वह प्रयत्न उसी से अवच्छेद्य होता है । और कोई भी प्रयत्न उसी शरीर से उत्पन्न होता है जो शरीर उस प्रयत्न के आश्रयभूत आत्मा के अदृष्ट से उत्पन्न होता है । इसीलिये शरीरावच्छेदेन मैत्र-प्रयत्न की उत्पत्ति नहीं होती ।

यदि यह शङ्का की जाय कि "इसप्रकार ईश्वरावेश की अनुत्पत्ति बताने पर प्राणियो के विभिन्न शरीरो मे भूतावेश (पिशाचावेश) की भी उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि वे शरीर भूतात्मा के अदृष्ट से नहीं उत्पन्न होते किन्तु चैत्रादि अन्य प्राणियों के अदृष्ट से ही उत्पन्न होते है । अतः उक्त

अस्माकं तु नत्र संकोच-विकासस्वभावभूतात्मप्रदेशानुप्रवेशादुपपत्तेः। तत्र तदवच्छेदकतया चैत्रप्रयत्नं प्रति चैत्रशरीरत्वेनाऽवश्यं हेतुता वक्तव्या, अन्यथा मैत्रशरीरावच्छेदेन चैत्रप्रवृत्त्यापत्तेः, पाण्यादिचालकप्रयत्नमात्र एव पुनस्तदापत्तिवारणायाऽवच्छेदकतया तत्प्रयत्ने

व्यवस्था के अनुसार उन शरीरो द्वारा भूतात्मा मे प्रवृत्ति न हो सकेगी। जब कि उन शरीरो द्वारा भूतात्मा मे प्रवृत्ति तो होती है और इस प्रवृत्ति का होना ही उन शरीरो मे भूतात्मा का आवेश कहा जाता है। यदि यह कहा जाय कि- 'चैत्रादि के शरीर मे भूतावेश का यह अर्थ नहीं है कि चैत्रादि शरीरावच्छेदेन भूतात्मा मे प्रवृत्ति होती है किन्तु चैत्रात्मा के साथ भूतात्मा का एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध हो जाता है। जिस के कारण उन शरीरो के अधिष्ठाता प्राणियो के प्रयत्न से ही उन मे असाधारण प्रकार की चेष्टाएँ होने लगती हैं" तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर मृतशरीर मे भूतावेश की उपपत्ति न हो सकेगी। क्योंकि मृतशरीर के साथ उस व्यक्ति का सम्बन्ध टूट जाता है जिस व्यक्ति के अदृष्ट से यह शरीर पूर्व मे उत्पन्न था। अत भूतावेश से उस शरीर मे होनेवाली चेष्टाएँ उस शरीर के अधिष्ठाता जीव के प्रयत्न से उत्पन्न नहीं मानी जा सकती। अतः उन्हें भूतात्मा से ही उत्पन्न मानना होगा और यह तब ही हो सकता है जब मृतशरीरावच्छेदेन भूतात्मा मे प्रयत्न की उत्पत्ति मानी जाय। अतः इस व्यवस्था का त्याग करना होगा कि जो शरीर जिस के अदृष्ट से उत्पन्न होता है उसी शरीर से उस मे प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। इसीलिये सृष्टि के आरम्भ मे जो शरीर उत्पन्न होते हैं वे यद्यपि भगवान के नहीं उत्पन्न होते तब भी भगवान मे तत्तद् शरीरद्वारा प्रयत्न का उदय हो सकता हैं. जिस से उन शरीरो मे चेष्टा की उत्पत्ति हो कर उन के द्वारा व्यवहार का प्रवर्तन हो सकता है और यदि ईश्वर मे प्रयत्न की उत्पत्ति कथमपि अभीष्ट न हो तो ईश्वर का नित्य प्रयत्न ही तत्तद् शरीर से अवच्छेद्य हो सकता है। वह अवच्छेद्यत्व जन्यत्वरूप न होकर स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप हो सकता है। जैसे नित्य आकाशमे घटावच्छेद्यत्व होता है"

## [ आत्मा के संकोच-विकास से भूतावेश ]

तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि चैत्रशरीरावच्छेदेन मैत्रप्रयत्न की उत्पत्ति के परिहारार्थ यह नियम मानना अनिवार्य है कि जो शरीर जिस प्राणी के अदृष्ट से उत्पन्न होता है तत्शरीरावच्छेदेनैव उस प्राणी मे प्रयत्न की उत्पत्ति होती हैं। इस नियम के मानने पर जो भूतावेश की अनुपपत्ति प्रदर्शित की गई है वह नैयायिक के ही मत मे प्रसक्त होती है, आर्हत मत मे वह अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आर्हतमत मे आत्मा प्रदेशवान होता है और उस के प्रदेश सङ्कोच-विकासशाली होते है। इसलिये चैत्रादि के शरीरमे भी भूतात्मा के प्रवेश का उसीप्रकार अनुप्रवेश हो सकता हैं जैसे चैत्रादि के शरीर मे चैत्रादि के आत्मप्रवेश का अनुप्रवेश होता है। भूतात्मा के प्रदेश का चैत्रादि के शरीर मे यह अनुप्रवेश ही भूतावेश कहा जाता है। और इस अनुप्रवेश के कारण चैत्रादिशरीरावच्छेदेन भूतात्मा मे प्रवृत्ति हो सकती है क्योंकि जिस शरीर मे जिस आत्मा का प्रदेश अनुप्रविष्ट होता है तत्शरीरावच्छेदेन उस आत्मा मे प्रयत्न होने का नियम है। भूतात्मा के प्रदेश का यह अनुप्रवेश तत्तत् शरीर मे अपने अदृष्ट से प्रविष्ट होनेवाले आत्माओ के अदृष्ट से होता। है। अत. यह भूतावेश उन आत्माओ के लिये दुःखप्रद होता है। चैत्र के शरीर मे मैत्रात्मा के प्रदेश का अनुप्रवेश नहीं हो सकता, क्योंकि तदनुकूल कोई अदृष्ट नहीं होता। अतः चैत्रशरीरावच्छेदेन मैत्रात्मा मे प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु नैयायिकमत मे मैत्र-

तया तद्भावस्य हेतोरापादकस्य सत्त्वात् तत्तच्छरीरत्वेन तत्तत्प्रवृत्त्यादिहेतुत्वे गौरवात्, काय-व्यूहस्थलेऽपि योगजाऽदृष्टोपगृहीतत्वसंबन्धेन तदात्मवत्त्वस्य सर्वशरीरानुगतत्वात् ।

शरीरावच्छेदेन चैत्रप्रवृत्ति की उत्पत्ति के निवारणार्थ अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्र प्रयत्न के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से चैत्र शरीर को कारण मानना पडता है। इसलिये चैत्रादि का शरीर चैत्रादि की ही प्रवृत्ति का कारण हो सकता है भूतात्मा की प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता। अत न्याय मत मे चैत्रादि के शरीर मे भूतावेश की अनुपपत्ति हो सकती है।

[ नैयायिक मान्य कार्य-कारणभाव मे गौरव ]

यदि यह कहा जाय कि-'अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्र-प्रयत्न के प्रति चैत्रशरीर तादात्म्य सम्बन्ध से कारण है यह कार्य-कारणभाव नैयायिक को भी मान्य नहीं है। क्योंकि इसके मानने पर भी यह आपत्ति हो सकती है कि हस्त मे गति उत्पन्न करनेवाले प्रयत्न की अवच्छेदकतासम्बन्ध से चरण मे भी उत्पत्ति होनी चाहिये। क्योंकि चरण मे अवच्छेदकतासम्बन्ध से उस प्रयत्न का अभाव है और अवच्छेदकता सम्बन्धेन तत्प्रयत्न का अभाव तत्प्रयत्न का कारण होता है। अत. इस आपत्ति के वार-णार्थ जो जो प्रवृत्ति जिस जिस शरीर या जिस जिस शरीरावयव द्वारा उत्पन्न होती है उस उस प्रवृत्ति के प्रति तत्तद् शरीर या तत्तद् शरीरावयव कारण होता है। और इस कार्यकारणभाव को मान लेने पर मैत्रशरीरावच्छेदेन चैत्रप्रवृत्ति की आपत्ति का भी वारण हो जाता है। अत अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्र प्रयत्न के प्रति अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्रशरीर कारण है यह कार्यकारणभाव अनावश्यक हो जाता है। इसीलिये चैत्रशरीरावच्छेदेन भूतात्मा मे प्रवृत्तिरूप भूतावेश और सृष्टि के आरम्भ मे प्रयोज्य-प्रयोजक आदि शरीरावच्छेदेन प्रयत्नशालितारूप ईश्वरावेश की अनुत्पत्ति नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि हस्त मे गतिजनक प्रयत्न की चरण मे उत्पत्ति की आपत्ति का वारण करने के लिये जिस कार्यकारणभाव की कल्पना की गई है उस मे प्रवृत्ति एवं शरीर तथा शरीरावयव के भेद से महान गौरव है। अत उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

चरण मे हस्तक्रियाजनक प्रयत्न की उत्पत्ति की आपत्ति का वारण करने के लिये यह कार्यकारण-भाव मानना उचित है कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से प्रयत्न के प्रति गतिप्रकारक इच्छा विशेष्यतासम्बन्ध से कारण है। हस्त मे गति का जनक प्रयत्न 'हस्तश्चलतु' इस इच्छा से उत्पन्न होता है। यह इच्छा विशेष्यता सम्बन्ध से हस्त मे रहती है। अत एव इस इच्छा से उत्पन्न होनेवाला प्रयत्न अवच्छेदकता सम्बन्ध से हस्त मे ही उत्पन्न हो सकता है न कि चरण मे। अथवा यह कहा जा सकता है कि कोई भी प्रयत्न अवच्छेदकतासम्बन्धेन किसी भी शरीरावयव मे नहीं उत्पन्न हो सकता किन्तु अवच्छेदकता सम्बन्धेन शरीर मे ही उत्पन्न होता है। और उस प्रयत्न से हस्त चरणादि मे जो सदा प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु व्यवस्थित रूप से कभी हस्त मे कभी चरण मे होती है उसका नियामक प्रयत्न को उत्पन्न करनेवाली 'हस्तश्चलतु, चरणश्चलतु' इत्यादि इच्छा है। इसका आशय यह है कि समवाय सम्बन्ध से चलनादिरूप चेष्टा के प्रति प्रयत्न 'स्वजनक चलनादि प्रकारक इच्छा विशेष्यत्व सम्बन्ध' से कारण है। अतः जब 'पाणिश्चलतु' इस इच्छा से शरीरावच्छेदेन प्रयत्न उत्पन्न होगा तब वह प्रयत्न उक्त सम्बन्ध से पाणि मे रहने के कारण पाणि मे चलन क्रिया को उत्पन्न करेगा। और जब 'चरणश्चलतु' इस इच्छा से शरीरावच्छेदेन प्रयत्न उत्पन्न होगा तब वह प्रयत्न उक्त सम्बन्ध से चरण मे रहने के कारण चरण मे चलन क्रिया को उत्पन्न करेगा।

अपि च, यथाकथञ्चिद् भूतावेशन्यायेन तच्छरीरपरिग्रहे जगदप्यावेशेनैव प्रवर्तयेत्

## [ योगी जनो द्वारा कायव्यूह की उपपत्ति ]

अब इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि 'यदि तत्तत् पुरुषीय प्रयत्न के प्रति तत्तत् पुरुषीय शरीर कारण है तब जब कोई योगी विभिन्न शरीरो से भोक्तव्य कर्मो को एक साथ ही भोग द्वारा समाप्त कर देने के लिये विभिन्न शरीरो की रचना करता है तो उस योगी मे विभिन्न शरीरावच्छेदेन प्रयत्न कैसे उत्पन्न होगा ? क्योकि उस योगी को प्रारब्ध कर्म से जो शरीर प्राप्त रहता है वही उसका शरीर होता है । अत एव उसी शरीर के द्वारा उस से प्रयत्न होना उचित है'-किन्तु यह प्रश्न उचित नहीं है क्योकि जैसे उस का मातापितृजशरीर उस के अदृष्ट से उसे उपलब्ध होता है उसी प्रकार सपूर्ण कर्मो का एक साथ भोग करने के लिये वह स्वय जिन विभिन्न शरीरो की रचना करता है वे शरीर भी उसी के योगज अदृष्ट से उसे उपलब्ध होते हैं । अतः मातापितृज शरीर के साथ वे शरीर भी उसी के शरीर है अतः तत्पुरुषीयप्रयत्न के प्रति तत्पुरुषीयशरीर-तत्पुरुषीय अदृष्टाकृष्ट शरीर को कारण मानने पर स्वर्निमित कायव्यूह द्वारा योगी मे प्रवृत्ति की अनुत्पत्ति नहीं हो सकती । निष्कर्ष यह है कि एक पुरुष के शरीर से अन्य पुरुष मे प्रवृत्ति की उत्पत्ति के निवारणार्थ तत्तत् पुरुषीय प्रयत्न मे तत्तत् पुरुषीय शरीर को कारण मानना आवश्यक है । और जो शरीर जिस पुरुष के अदृष्ट से उत्पन्न होता है वही उस पुरुष का शरीर होता है । चैत्रादि का शरीर भूतात्मा के अदृष्ट से उत्पन्न नहीं होता । अत एव वह भूतात्मा का शरीर नहीं कहा जा सकता और सृष्टि के आरम्भ मे जो प्रयोज्य-प्रयोजक आदि शरीर उत्पन्न होता है वह ईश्वर के अदृष्ट से उत्पन्न नही होता अत वह ईश्वर का शरीर नहीं कहा जा सकता । अत तत्तद् शरीरगत आवेश को तत्तत् शरीरावच्छेदेन प्रयत्नवत्स्वरूप मानने पर न्याय मत मे भूतावेश और ईश्वरावेश की उपपत्ति नही हो सकती । किन्तु आर्हत मत मे उक्तरूप से भूतावेश की उपपत्ति हो सकती है और ईश्वरावेश की उपपत्ति की चिन्ता आर्हतो को हो ही नहीं सकती क्योकि उन्हें ईश्वरावेश मानने की आवश्यकता नहीं है ।

## (आवेश से प्रवृत्ति, वेदादिरचना की व्यर्थता)

सृष्टि के आरम्भ मे ईश्वर द्वारा सम्प्रदाय प्रवर्तन की जो उपपत्ति बताई गई है उस सम्बन्ध मे यह भी विचारणीय हो जाता है कि—

यदि यह मान भी लिया जाय कि भूतावेश के समान सृष्टि के आरम्भ मे कुछ शरीरो मे ईश्वरावेश होता है और उस आवेश के कारण उन शरीरो द्वारा ईश्वर तत्तत्सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता है तो इस प्रश्न का क्या समाधान होगा कि-'वह कतिपय शरीरो मे आवेश द्वारा जैसे सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता है वैसे आवेश द्वारा ही समुचे जगत् का भी प्रवर्तन क्यो नहीं कर देता ? अर्थात् यह क्यो न मान लिया जाय कि जगत् मे जिस किसी मे जो क्रिया होती है वह उस मे ईश्वर का आवेश होने के कारण ही होती है, मनुष्य के विभिन्न शरीरों द्वारा जो वेदविहित कर्मो का अनुष्ठान होता है वह उन शरीरो मे ईश्वर के आवेश से ही होता है । इस बात का सङ्केत गीता-आदि के कुछ वचनो से भी मिलता है । जैसे 'ईश्वर. सर्वभूतानाम् हृद्देशे अर्जुन ? तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढाणि मायया' ।। एव- जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति',जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति' । केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' ।। इस प्रकार ईश्वरावेश से ही जगत् की सम्पूर्ण प्रवृत्तिया निष्पन्न हो सकती है । अतः ईश्वर द्वारा वेदशास्त्रादि की रचना मानना निरर्थक है ।

इति व्यर्थमस्य वेदादिप्रणयनम् । 'कर्मवदस्याऽपि दृष्टेष्टाऽनतिलङ्घनेनैव प्रवर्तकत्वाद् नानुपपत्तिरि'ति चेत् ! तर्हि परप्रवृत्तये वाक्यमुपदिशन् स्वेष्टसाधनताज्ञानादिकमपि कथमतिपतेत् ? कथं वा चेष्टात्वावच्छिन्ने विलक्षणयत्नत्वेन हेतुत्वात् तदनवच्छिन्नस्य विजातीयमनःसंयोगादिजन्यत्वात् तादृशप्रयत्नं विना ब्रह्मादिशरीरचेष्टा ? 'विलक्षणचेष्टायां विलक्षणप्रयत्नस्य हेतुत्वात् अत्रेश्वरीयप्रयत्न एव हेतुरि'ति चेत् ? तर्हि तस्य सर्वत्राऽविशिष्टत्वात् सर्वत्रापीश्वरचेष्टापत्तिः । 'विलक्षणचेष्टावच्छिन्नविशेष्यतया तत्प्रयत्नस्य हेतुत्वाद् नातिप्रसङ्ग' इति चेत् ? तर्हि चेष्टावैलक्षण्यसिद्धौ तथाहेतुत्वम्, तथाहेतुत्वे च तद्वैलक्षण्यमिति परस्पराश्रयः ।

इस प्रश्न के उत्तर मे यदि यह कहा जाय कि-'जैसे आर्हत मत मे कर्म ही सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का मूल कारण होता है किन्तु वह सीधे उन प्रवृत्तियो का जनक न होकर जिस दृष्ट-इष्ट कारण से प्रवृत्तियों का होना लोक मे देखा जाता है उस के द्वारा ही उसे उन प्रवृत्तियो का जनक माना जाता है । इसीलिये कर्म और प्रवृत्तियों के बीच दृष्ट इष्ट तत्तत् कारणो की भी अपेक्षा होती है । उसी प्रकार ईश्वर यद्यपि जगत की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का कारण है किन्तु वह भी लोक मे जिस प्रवृत्तियो का जिस दृष्ट-इष्ट कारण से उदय होना देखा जाता है उनके द्वारा ही उन प्रवृत्ति का कारण होता है । अतः वेदादि के द्वारा लोक प्रवृत्ति के सम्पादनार्थ उसे वेदादि की रचना करनी पडती है । अतः वेदादि की रचना को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि वह दूसरों की प्रवृत्ति के लिये वाक्य का उपदेश इसलिये करता है कि वाक्य द्वारा ही पर का प्रवर्तन लोक मे दृष्ट है तब तो उसे अपने इष्टसाधनताज्ञानादि की भी अपेक्षा करनी चाहिये क्योंकि यह भी लोक मे देखा जाता है कि मनुष्य जिस कर्म को दूसरे द्वारा कराने मे अपना इष्ट समझता है उसी कर्म मे दूसरे को प्रवृत्त करता है । अत· ईश्वर को भी इसीप्रकार दूसरो का प्रवर्तन करना चाहिये । किन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर ससारी मनुष्यो से श्रेष्ठ न हो सकेगा । क्योंकि ससारी मनुष्य के समान वह भी अपूर्ण होगा और जिस वस्तु की उसे कमी होगी उसे पाने की वह इच्छा करेगा और उस की प्राप्ति जिस मनुष्य को क्रिया से सम्भवित होगी उस मनुष्य को उस क्रिया मे प्रवृत्त करेगा ।

## [ ब्रह्मादि देवता के शरीर में चेष्टा कैसे ? ]

इस सदर्भ मे यह भी विचारणीय है कि-ब्रह्मादि देवताओ के शरीरो मे चेष्टा कैसे उत्पन्न हो सकती हैं और चेष्टा उत्पन्न न होने पर उनके द्वारा सृष्टि का निर्माण-रक्षण और संहार आदि कार्य किस प्रकार हो सकेगा ? ब्रह्मा आदि शरीरो मे चेष्टा नहो सकने का कारण यह है कि चेष्टा के प्रति विलक्षण प्रयत्न कारण होता है और विलक्षण प्रयत्न के प्रति विलक्षण आत्ममन संयोगादि कारण होता है, ब्रह्मा आदि मे विलक्षण आत्ममनःसंयोग न होने से विलक्षणप्रयत्न नहीं हो सकता है । और विलक्षण प्रयत्न के अभाव मे ब्रह्मा आदि के शरीर मे चेष्टा नहीं हो सकती है । यदि यह कहें कि –'विलक्षणप्रयत्न विलक्षणचेष्टा का कारण होता हैं अत विलक्षणप्रयत्न से होनेवाली विलक्षणचेष्टा ब्रह्मा आदि के शरीर मे भले न हो किन्तु ईश्वर प्रयत्न से चेष्टा होने मे कोई बाधा नहीं हो सकती'-

किञ्च, स्वाधिष्ठातरि भोगाऽजनकशरीरसंपादनमपि तस्यैश्वर्यमात्रमेव, इति दृष्टविरोधेनैव जगत्प्रवृत्तिरायाता। एतेनैतत् प्रतिक्षिप्तम्-

तो यह ठीक नहीं है क्योकि ईश्वर का प्रयत्न स्वाश्रयसयोग सम्बन्ध से जैसे ब्रह्मा आदि शरीर मे रहेगा उसी प्रकार अन्य सभी शरीरो और मूर्त द्रव्यो मे भी रहेगा, अत. ईश्वरप्रयत्न को उक्त सम्बन्ध से चेष्टा का कारण मानने पर केवल ब्रह्मादि शरीरो मे ही उस से चेष्टा की उत्पत्ति न होगी अपितु अन्य सभी शरीरो मे भी चेष्टा की आपत्ति होगी।

[ ब्रह्मादिशरीरचेष्टा की उपपत्ति का व्यर्थ प्रयास ]

इसके उत्तर मे यदि यह कहा जाय कि-"जैसे जीव के विलक्षणप्रयत्न से विलक्षणचेष्टा की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार ईश्वरप्रयत्न से भी विलक्षणचेष्टा की उत्पत्ति होती है और यह विलक्षण चेष्टा जीव के प्रयत्न से होने वाली विलक्षणचेष्टा से विलक्षण होती है और इस चेष्टा के प्रति ईश्वर प्रयत्न स्वाश्रयसयोग सम्बन्ध से कारण न होकर विलक्षण चेष्टात्वावच्छिन्न विशेष्यता सम्बन्ध से कारण होता है। यह विशेष्यता ब्रह्मा आदि शरीरो मे होने वाली चेष्टाओ मे ही रहती है अत एव ईश्वर प्रयत्न से उसी चेष्टा का जन्म होताहै अन्य चेष्टाओ का जन्म नहीं होता है,क्योकि उक्त विशेष्यता सम्बन्ध से ईश्वरप्रयत्न को कारण मानने पर कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध तादात्म्य होता है और ब्रह्मादि शरीर मे उत्पन्न होनेवाली विलक्षण चेष्टा का तादात्म्य उसी चेष्टा मे होता है अन्य चेष्टाओ मे नहीं होता है। वह चेष्टा ब्रह्मादि के शरीर मे ही समवेत होती है अन्य शरीरो मे नहीं क्योकि समवाय सम्बन्ध से उस चेष्टा के प्रति ब्रह्मादि शरीर भोगानायतनशरीरत्व रूप से कारण होता है। ब्रह्मादि का शरीर किसी भोक्ता का शरीर नही होता किन्तु प्राणियो के अदृष्ट से उत्पन्न होने वाला ऐसा शरीर होता है जिस से किसी का भोग नही होता है किन्तु ईश्वर के प्रयत्न से चेष्टावान् होकर ईश्वर के कार्यो मे सहायक होता है, प्राणियो के अदृष्ट से होनेवाले अन्य सभी शरीर प्राणियो के भोग का आयतन होते है अत एव उन मे भोगानायतनशरीरत्व नहीं रहता है, इसीलिए ब्रह्मादि के शरीर मे ईश्वर प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाली चेष्टा अन्य शरीरो मे समवेत नही होती है।'—

तो यह कथन ठीक नहीं है क्योकि जब यह सिद्ध हो जाय कि ब्रह्मादि के शरीर मे होनेवाली चेष्टा अन्य चेष्टाओ से विलक्षण होती है तभी तादात्म्यसम्बन्ध से विलक्षण चेष्टा के प्रति विलक्षण-चेष्टात्वावच्छिन्न विशेष्यता सम्बन्ध से ईश्वर प्रयत्न मे कारणता सिद्ध हो सकती है और जब उक्त कारणता सिद्ध हो जाय तभी ईश्वर प्रयत्न से ब्रह्मादि शरीर मे उत्पन्न होनेवाली चेष्टा मे वैलक्षण्य सिद्ध हो सकता है। अत अन्योन्याश्रय दोष होने के कारण उक्त कार्यकारणभाव की कल्पना नही हो सकती।

(ईश्वरप्रवृत्ति मे दृष्टविरोध की आपत्तियाँ)

सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न कतिपय शरीरो में ईश्वरावेश द्वारा तत्तत् सम्प्रदायो का प्रवर्तन मानने मे दृष्टविरोध का उल्लेख अभी किया जा चुका है। वह आपत्ति इस बात से और स्पष्ट हो जाती है कि ईश्वर ऐसे भी शरीर का निर्माण करता है जो अपने अधिष्ठाता में-अपने को सचेष्ट बनानेवाले पुरुष में भोग नहीं उत्पन्न करता है। ऐसे शरीर की रचना उस के एकमात्र ऐश्वर्य का ही सूचन करती है क्योकि ऐसा कार्य जो लोकदृष्ट कार्यो से सर्वथा विचित्र हो निरकुश ईश्वर के बिना

"हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा ।
तदभावात् प्रवृत्तिर्नो कर्मवादेऽप्ययं विधिः ॥१॥ (न्या. कु. ३-१८)
इति, कर्मणः कर्त्रादिमापेक्षत्वेनैव जगद्धेतुत्वात्" । समर्थितं च-
"धर्माऽधर्मौ विना नाङ्गं विनाऽङ्गेन मुखं कुतः ?
मुखाद् विना न वक्तृत्वं तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥" (वी.स्तोत्र ७-१) इति ।
शरीरस्य स्वोपात्तनामकर्महेतुत्वात् , तद्वैचित्र्येण तद्वैचित्र्यात्, अन्यथाऽङ्गोपाङ्गवर्णादिप्रतिनियमानुपपत्तेरिति, अन्यत्र विस्तरः । तस्माद् मायाविवत् समयग्राहकत्वम्,

---

नहीं हो सकता और जब लोकदृष्ट के विपरीत भी करना ही है तो वह अपने आवेश द्वारा ही जगत् की सम्पूर्ण प्रवृत्तियो को सम्पन्न कर सकता है । अतः उस के द्वारा वेद आदि की रचना का निरर्थक होना निर्विवाद है ।

इसी से उस कथन की भी निस्सारता समज लेनी चाहिए जो उदयनआचार्य की कुसुमाञ्जलि मे-'हेत्वभावे फलाभावात्' इस कारीका से कहा गया है । कहने का तात्पर्य यह है कि उस कारिका मे जो यह बात कही गई है कि-'कारण के अभाव मे कार्य नहीं होता है' यह सामान्य नियम है, प्रमाण प्रमा का कारण होता है, अतः उस के अभाव मे प्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और प्रमा के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । अत एव लोकप्रवृत्ति के लिए प्रमा को उपस्थापित करने के हेतु वेद आदि प्रमाण की रचना आवश्यक है । यह प्रक्रिया कर्मवाद मे भी आवश्यक है क्योंकि कर्म भी स्वय अकेले किसी कार्य को उत्पन्न न करके लोकसिद्ध कारणो द्वारा ही उत्पन्न करता है अत एव उसे भी कार्य के लोकसिद्ध कारण का सपादन करना पडता है । क्योंकि कर्म भी कर्त्ता आदि की अपेक्षा से ही जगत् का हेतु होता है ।'-कारिका का यह कथन उक्तयुक्ति से निस्सार हो जाता है, क्योंकि ईश्वर को जगत् कर्त्ता मानने पर उसे अपने अधिष्ठाता मे भाग न उत्पन्न करने वाले शरीर का निर्माता मानना पडता है-जो दृष्टविरुद्ध है अत उसी के समान दृष्टविरुद्ध अन्य कार्यों के सम्भव होने से वेद आदि की रचना का वैयर्थ्य प्रसक्त होता है । कर्मवाद मे उक्तरीति से लोकदृष्टि से विरुद्ध कोई कल्पना नहीं करनी पडती है । वीतरागस्तोत्र के श्लोक से इस बात का समर्थन यह कह कर भी किया गया है कि-धर्म और अधर्म के बिना शरीर नहीं उत्पन्न हो सकता, शरीर के बिना मुख नहीं हो सकता, तथा मुख के बिना वक्तृत्व नहीं हो सकता ।' इसलिये अन्य लोग जो दृष्टविपरीत कल्पना करने के व्यसनी नहीं होते वे ऐसे ईश्वर के अस्तित्व के उपदेष्टा कैसे हो सकते है जो बिना मुख के ही महान् वेदराशि का उच्चारण कर डालता है ? अतः यह वस्तुस्थिति बुद्धिमान मनुष्यो को मान्य होनी चाहिये कि जीव को शरीर की प्राप्ति पूर्वोपार्जित शरीरनामकर्म के उदय से ही होती है और उस के वैचित्र्य से शरीर मे वैचित्र्य होता है । अन्यथा एकजातीय ही शरीर मे अङ्गोपाङ्ग-वर्णादिपरिवार की नियत व्यवस्था नहीं हो सकती । इस विषय का विस्तृत विचार ग्रन्थान्तर मे द्रष्टव्य है ।

उपर्युक्त विचार का निष्कर्ष यह है कि ईश्वर को मायावी के समान समय अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्ध स्वरूप सकेत का ग्राहक बताना एवं घटपटादि की निर्माणपरम्परारूप सम्प्रदाय का प्रवतक कहना भी एक प्रकार की मायाविता ही है । अर्थात् कोई मायावी विद्याधर ही ऐसे ईश्वर को शब्दार्थ-

घटादिसंप्रदायप्रवर्तकत्वं च पराभिमतेश्वरस्य मायावितामेव विद्याधरविशेषस्य व्यञ्जयति। पितुरिव पुत्रादेर्युगादौ युगादीशस्य जगतः शिक्षया तु तथात्वं युक्तिमत्, स्वभावत एव तीर्थकृतां परोपकारित्वात्। अत एव 'कुलालेभ्यो नमः' इत्याद्या श्रुतिः सगच्छत इति युक्तं पश्यामः। अनुमानेऽपि सिद्धसाधनं बोध्यम्।

प्रत्ययादिना तु वेदप्रामाण्यवादिनामाप्त-तद्वक्तृसिद्धावपि नेश्वरसिद्धिः, इति किमिह तदुपन्यासेन ? एतेन कार्यादिपदानामर्थान्तरमपि प्रयासमात्रम्। 'जन्यतत्प्रमासामान्ये तत्प्रमात्वेन गुणतया हेतुत्वात्, आद्यप्रमाजनकप्रमाश्रयतयेश्वरसिद्धिः' इति तु मूढानां वचः, घटत्वादिमद्वृत्तिविशेष्यतया तत्र घटत्वादिविषयत्वेनैव हेतुतया, संस्कारेणैव घटत्वादिसंबन्धहेतुतयैव वा तवापि निर्वाहात्, अस्माकं तु सम्यग्दर्शनस्यैव गुणत्वात्।

सम्बन्ध का ग्राहक और घटादि पदार्थ के व्यवहार का प्रवर्तक कह सकता है जो करचरणमुखकर्ण आदि से विहीन और अशरीरी होने से वस्तुत कुछ भी करने मे असमर्थ है। हा, यह युक्तिसङ्गत अवश्य हो सकता है कि जैसे पिता अपने पुत्र को शिक्षा देता है उसी प्रकार युगादि मे प्रारम्भिक युग का ईश प्रथमतीर्थंकर जगत को शिक्षा देकर तत्तत् सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता है क्योकि तीर्थंकर ही युगादीश होते है और वह स्वभाव से ही सर्व जीवो का हितेच्छु होने से उन्हें उपदेश देते है। इसी प्रकार तीर्थंकर भी युगादि मे बिना किसी निजी प्रयोजन के केवल स्वभाववश प्रजा को उपदेश देते है। इस प्रकार 'नम कुलालेभ्य' आदि श्रुतिया भी सङ्गत हो सकती है। और इसी कारण तत्तत्सप्रदाय के स्वतंत्र प्रवर्तक के अनुमान मे सिद्धसाधन दोष भी हो सकता है क्योकि प्रत्येक युगादि मे उस युगका आदि तीर्थंकर तत्तत्सप्रदाय के प्रवर्तक रूप से सिद्ध है।

## [ प्रत्ययादि प्रमाणो की निरर्थकता ]

प्रत्यय=प्रमा, श्रुति=वेद और वाक्य द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती क्योकि जो वेद को प्रमाण मानते हैं उन के मत मे प्रमा वेद और वाक्य से होने वाले अनुमानो से वेदार्थ के प्रमाता वेदकर्ता की सिद्धि हो सकती है किन्तु 'वह ईश्वर है' यह बात उन अनुमानो से नहीं सिद्ध हो सकती, क्योकि ईश्वर को सर्वकर्ता माना जाता है। और वे अनुमान जिस पुरुष को सिद्ध करते हैं उस की सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता को सिद्ध करने मे उदासीन है। इसीलिये कार्य आयोजनादि पदो का अन्य अर्थ कर के जिन अनेक अनुमानो को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है उन अनुमानो से भी सर्वज्ञ सर्वकर्ता ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, क्योकि वे अनुमान भी जिस पुरुष का साधन कर पाते है उसे वेद वेदार्थविषयकतात्पर्य का धारक, यागादि का अनुष्ठाता, प्रणवादि पदो का बोध्य, वेदस्थ अह पद का स्वतत्र उच्चारण कर्ता, आदि ही सिद्ध कर पाते है किन्तु उस की सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता प्रमाणित करने मे वे सर्वथा असमर्थ रहते है। इसलिये कार्य आयोजन इत्यादि पदो के पूर्वोक्त अन्य अर्थों की कल्पना कर के अनुमान करने का प्रयास ही ईश्वर सिद्धि की दृष्टि से निरर्थक कष्टमात्र ही है।

कुछ लोग ईश्वर को सिद्ध करने के लिये इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग करते हैं कि 'विशेष्यतासम्बन्ध से जन्य तत्प्रकारकप्रमासामान्य मे विशेष्यता सम्बन्ध से तत्प्रकारक प्रमा गुणविधया कारण

है। 'गुणविधया कारण' का अर्थ यह है कि 'गुण' इस प्रशंसा सूचक शब्द से व्यवहृत होनेवाला कारण। प्रमा अपने विषय का अव्यभिचारी ज्ञान होता है। उस से मनुष्य को धोखा नहीं होता। इसलिये उस के कारण को प्रशंसा बोधक गुण शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस कार्यकारण भाव का अभिप्राय यह है कि प्रमा उसी विषय की होती है जिस विषय की प्रमा कभी पहले हुई रहती है। और जो विषय पहले कभी नहीं प्रमित रहता उस की प्रमा नहीं होती। इसलिये असत् पदार्थ की प्रमा कभी नहीं हो सकती क्योंकि उस की प्रमा पहले कभी हुई रहती नहीं है। इस कार्यकारण भाव से ईश्वर की सिद्धि इस अनुमान से होती है कि 'सृष्टि के आरम्भ में होनेवाली पहली जन्यप्रमा अपने समान विषयक प्रमा से जन्य है क्योंकि वह प्रमा है। जो भी प्रमा होती है वह समानविषयक प्रमा से जन्य होती है जैसे बाद मे होनेवाली घटत्वादि की प्रमा पूर्व मे होने वाली घटत्वादि प्रमा से उत्पन्न होती है'। इस अनुमान से आद्यप्रमा की जनक कोई ऐसी प्रमा माननी होगी जिस को समानविषयक अन्य-प्रमा की आवश्यकता न हो और वह तब ही हो सकता है जब वह प्रमा नित्य हो। इस प्रकार की प्रमा सिद्ध हो जाने पर उस के आश्रयरूप में ईश्वर की सिद्धि अनिवार्य हो जाती है।

व्याख्याकार श्री यशोविजयजी महाराज ईश्वर सिद्धि के सम्बन्ध में इस कथन को मूढकथन सूचित करते है। क्योंकि उनकी दृष्टि में 'जन्य तत्प्रकारक प्रमा सामान्य में तत्प्रकारक प्रमा कारण है' यह कार्यकारणभाव ही अनावश्यक है। उन का कहना है कि घटभिन्न में घटत्व प्रकारक प्रमा की आपत्ति का वारण करने के लिये नैयायिक को घटवृत्तिविशेष्यता सम्बन्ध से घटत्वप्रकारकप्रमा के प्रति घटत्व को ही समवाय सम्बन्ध से कारण मान लेना चाहिये। अथवा घटत्वप्रकारक प्रमा को ही संस्कार द्वारा कारण मान लेना चाहिये किंवा घटत्वसमवाय को स्वरूप सम्बन्ध से कारण मान लेना चाहिये। प्रथम और तृतीय पक्ष में प्रमा की उत्पत्ति में प्रमा की अपेक्षा ही नहीं होती। अतः आद्य प्रमा के लिये ईश्वरीय प्रमा की सिद्धि नहीं हो सकती। और द्वितीय पक्ष में प्रमा की उत्पत्ति में प्रमा की अपेक्षा होने पर भी उस के स्वयं रहने की अपेक्षा नहीं होती किन्तु उस से उत्पादित संस्कार की अपेक्षा होती है। अतः उस पक्ष में भी आद्य प्रमा के लिये ईश्वरीय प्रमा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी उत्पत्ति पूर्वसर्ग की प्रमा से उत्पादित संस्कार द्वारा हो सकती है। यद्यपि यह द्वितीयपक्षीय कार्य-कारणभाव उचित नहीं नहीं हो सकता क्योंकि उस पक्ष में संस्कारजन्य होने से प्रमा मात्र में स्मृतित्व की आपत्ति होगी प्रथम पक्षमें घटत्व को कारण मानने पर घटत्वत्वको कारणतावच्छेदक मानना पडेगा और घटत्वत्व घटेतराऽसमवेतत्वे सति सकलघटसमवेतत्वरूप है अतः घटत्व को कारण मानने में गौरव होगा। अत एव प्रथम कार्यकारणभाव भी उचित नहीं हो सकता। किन्तु तृतीय पक्ष ही उचित हो सकता हैं क्योंकि घटत्व समवाय को कारण मानने पर समवायत्व और घटत्व दो धर्म कारणता के अवच्छेदक होंगे। उन में समवायत्व अखण्ड उपाधि है और घटत्व समवायसम्बन्ध से अनुल्लिख्यमान होने के कारण स्वरूपतः कारणतावच्छेदक होगा। इसलिये घटत्व समवाय को कारण मानने में गौरव नहीं होगा। इस प्रकार इस कार्यकारण भाव से ही घटभिन्न में घटत्व प्रकारक प्रमा की आपत्ति का वारण हो जायगा। अतः तत्प्रकारक जन्यप्रमा सामान्य में तत्प्रकारक प्रमा को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है श्रीयशोविजयजी महाराज ने इस प्रसङ्ग में यह भी कहा है कि आर्हतो के मत में तो उक्त प्रकार के कार्यकारण भावो की कल्पना के प्रपञ्च में पडने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि उस मत में सम्यग् दर्शन ही प्रमा का गुणविधया कारण होता है। घटभिन्न में घट-

सख्याविशेषादपि नेश्वरसिद्धिः, तत्रापि लौकिकापेक्षाबुद्धेरेव तद्धेतुत्वात् । ममाप्यपेक्षाबुद्धेरेव तथाव्यवहारनिमित्तत्वात् तज्जन्यातिरिक्तसंख्याऽसिद्धेः । परिमाणेऽपि संघातभेदादिकृतद्रव्यपरिणामविशेषरूपे संख्याया अहेतुत्वाच्च । द्वि-कपालात् त्रि-कपालघटपरिमाणोत्कर्षस्य दलोत्कर्षादेवोपपत्तेरिति । तत्त्वमत्रत्यमार्हतवार्तायां विवेचयिष्यते ।

तस्माद् नेश्वरसिद्धौ किमपि साधीयः प्रमाणम्, नवा तदभ्युपगमेनापि तस्य सर्वज्ञत्वम्, उपादानमात्रज्ञानसिद्धावप्यतिरिक्तज्ञानाऽसिद्धेः, कारणाभावात्, मानाभावाच्चेति दिग् ॥१॥

---

त्वप्रकारक सम्यग् दर्शन नही होता, अतः घटभिन्न में घटत्वप्रकारक प्रमा की आपत्ति नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद होने से प्रमा के प्रति सम्यग्दर्शन की कारणता का पर्यवसान तत्प्रकारक प्रमा के प्रति तत्प्रकारक प्रमा की कारणता में नहीं हो सकता।

## [अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वादि व्यवहार की उपपत्ति]

संख्याविशेष से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि न्यायमत मे भी लौकिक अपेक्षाबुद्धि मे ही द्वित्वादि सख्या की कारणता सिद्ध है। ईश्वर को लौकिक अपेक्षाबुद्धि नहीं होती, क्योंकि ईश्वर की बुद्धि नित्य मानी जाती है। और लौकिकबुद्धि वही कहलाती है जो इन्द्रिय के लौकिक सनिकर्ष से उत्पन्न हो। अतः यह कहना कि-'द्व्यणुक में परिमाण की उत्पत्ति परमाणु मे एकत्व की ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि से होती है' यह उचित नहीं हो सकता। आर्हत मत मे तो अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वादि सख्या की उत्पत्ति मान्य ही नही है। क्योंकि उस मत मे अपेक्षाबुद्धि से ही द्वित्वादि के व्यवहार को उपपत्ति कर ली जाती है। तात्पर्य यह है कि न्यायमत मे जिस अपेक्षाबुद्धि को द्वित्वादि-सख्या का जनक माना जाता है, आर्हत मत मे वह अपेक्षाबुद्धि ही द्वित्वादि के व्यवहार मे कारण होती है। तात्पर्य, द्वित्वादि व्यवहार को ही द्वित्वके स्थान मे अभिषिक्त करदिया जाता है। उसी से द्वित्व का व्यवहार हो जाता है। अतः उस से अतिरिक्त द्वित्व सख्या की उत्पत्ति मानकर उसके द्वारा द्वित्वव्यवहार के उपपादन का प्रयास अनावश्यक है। अतः आर्हतमत मे द्वित्वादिनाम की कोई सख्या न होने से जैन के प्रति द्वित्व सख्या द्वारा ईश्वरानुमान का प्रयोग सभव ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रयोग आश्रयासिद्धि से ग्रस्त हो जायगा। आर्हत मत मे परिमाण के उत्पादनार्थ भी द्वित्वादि सख्या की कल्पना नहीं की जाती, क्योंकि आर्हत मत में द्रव्य का परिमाण सङ्घात-भेद से निष्पन्न होता है। उस मे सख्या की अपेक्षा नहीं होती। द्विकपालक घट के परिमाण की अपेक्षा त्रिकपालक घट के परिमाण में जो उत्कर्ष होता है वह भी कपाल के सख्याधिक्य से नहीं होता बल्कि द्विकपालकसङ्घात से त्रिकपालकसङ्घात के उत्कर्ष से होता है। व्याख्याकार का कहना है कि इस विषय का तात्त्विक विवेचन आर्हत वार्ता के प्रसग मे किया जायगा। इन समस्त विचारो का निष्कर्ष यही है कि ईश्वर की सिद्धि मे कोई उचित प्रमाण नहीं है और यदि पूर्वप्रदर्शित प्रमाणो के आधार पर ईश्वर को स्वीकार कर लिया जाय तो भी उन प्रमाणो से उनकी सर्वज्ञता नहीं सिद्ध हो सकती, जैसे कि पूर्वोक्त अनुमानो मे प्रथम अनुमान से ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध किया जाता है, और कर्ता के लिये उपादान कारणो के ज्ञानमात्र की आवश्यकता होती है। अतः उक्तानुमान से

"संतुष्य नैयायिकमुख्य ! तस्मादस्माकमेवाऽऽश्रय पक्षमग्र्यम् ।
तवोच्चकैरीश्वरकर्तृताया मनोरथं सम्प्रति पूरयामः ॥१॥
नयैः परानप्यनुकूलवृत्तौ प्रवर्तयन्त्येव जिनो विनोदे ।
उक्तानुवादेन पिता हितात् किं बालस्य नाऽऽलस्यमपाकरोति ? ॥२॥"

तदिदमाह—

ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम् ।
सम्यग्न्यायाऽविरोधेन यथाहुः शुद्धबुद्धयः ॥१०॥

ततश्च पातञ्जल-नैयायिकमतनिरासाच्च, अयं=तथाविधलोकप्रसिद्धः - ईश्वरकर्तृत्ववादः, परम्-उक्तविपरीतरीत्या, सम्यग्न्यायाऽविरोधेन=प्रतिनिर्णप्रतिहततर्कानुसारेण युज्यते, यथा शुद्धबुद्धयः=सिद्धान्तोपबृंहितमतयः परमर्षय आहुः ॥१०॥

तद्वचनमेवाऽनुवदति—

जगत् के उपादान कारणों का ही ज्ञान सिद्ध हो सकता है, उपादानसे भिन्न पदार्थों का ज्ञान नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि न उस के लिये कोई कारण है, न उस के लिये कोई प्रमाण ही है ॥१॥

व्याख्याकार श्री यशोविजयजी महाराज ने न्यायदर्शन की पद्धति से ईश्वर के कर्तृत्व का पूर्णतया निराकरण कर देने के बाद नैयायिक सर्वथा हताश न हो इस लिए बड़े सुन्दर ढंग से नैयायिक को यह कहते हुए आश्वासन दिया है कि नैयायिक को उक्त रीति से ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन कर देने पर भी दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि उस की सन्तुष्टि का औषध अब भी बना हुआ है । उसे केवल इतना ही करने की आवश्यकता है कि वह ईश्वर के कर्तृत्व को सिद्ध करने की अपनी पद्धति का मोह छोडकर हम आर्हतो की श्रेष्ठ पद्धति को स्वीकार कर ले । क्योंकि अपनी आर्हत पद्धति से हम ईश्वर को कर्ता सिद्ध करके उस के महान मनोरथ की पूर्ति कर सकते हैं । आर्हतो का यह मत है कि भगवान जिनेश्वर देव नयो के माध्यम से अन्य मतो को भी अनुकूल=संगत अर्थ मे प्रवाहित करके प्रतिवादी को सतुष्ट करते हैं । और यह उन के लिये उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसे पिता बालक का हित करने की बुद्धि से उक्त का अनुवाद अर्थात् पुनः पुनः प्रेरक वचन का प्रयोग कर के उसके प्रमाद को दूर करता है।

( ईश्वरकर्तृत्ववाद का कथंचित् औचित्य )

४ से नव कारिका मे प्रतिवादी की शैलीका निराकरण करके अब दसवी कारिका में जैन दर्शन की शैली से ईश्वर कर्तृत्व का समर्थन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

पातञ्जल और नैयायिक को अभिप्रेत रीति से ईश्वर की कर्तृता का खडन हो जाने पर अगर नैयायिकादि लोकों मे प्रसिद्ध ईश्वर कर्तृत्व का समर्थन करना है तब पातञ्जल-नैयायिक ने जो प्रणाली अपनायी थी उससे विपरीत जैन प्रणाली के अनुसार विपरीत तर्क से बाधित न होवे ऐसी युक्तियो से उसको संगति कर सकते हैं— जैसा कि शुद्ध यानी सिद्धान्त से परिकर्मित बुद्धि वाले परम ऋषियो ने कहा है —

**मूलम्-ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात् ।**
**यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद् गुणभावतः ॥११॥**

ईश्वरः **परमात्मैव**=कायादेर्बहिरात्मनो ध्यातुर्भिन्नत्वेन ज्ञेयादन्तरात्मनश्च तदधिष्ठायकस्य ध्यातुर्ध्येयैकस्वभावत्वेन भिन्नोऽनन्तज्ञान-दर्शनसंपदुपेतो वीतराग एव। अन्ये तु 'मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्र व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्मा अन्तरात्मा च, व्यक्त्याऽन्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा, भूतपूर्वनयेन च बाह्यात्मा, व्यक्त्या परमात्मा तु भूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मा अन्तरात्मा च' इत्याहुः । **तदुक्तव्रतसेवनात्**–परमाप्तप्रणीतागमविहितसंयमपालनात्, यतो मुक्तिः कर्मक्षयरूपा, भवति. ततस्तस्या **गुणभावतः**=राजादिवदप्रसादाभावेऽप्यचिन्त्यचिन्तामणिवद् वस्तुस्वभावबलात् फलदोपासनाकत्वेनोपचारात्, कर्ता स्यात् ।

(आज्ञापालन द्वारा ईश्वरकर्तृत्व)

११ वीं कारिका मे जैन ऋषियो के उन वचन का ही अनुवाद है जिन का सकेत पूर्वकारिका मे किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

परमात्मा ही ईश्वर है । परमात्मा का अर्थ है वह वीतराग पुरुष जो अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन से सम्पन्न होता है, और जो कायादि के अधिष्ठायक ध्याता अन्तरात्मा के लिये स्वाभिन्न रूप से ज्ञेयस्वरूप वहिरात्मा से भिन्न होता है और ध्याता अन्तरात्मा के लिये एकमात्र ध्येयस्वरूप होने से भिन्न होता है । आशय यह है कि आत्मा के ही तीन स्वरूप समझा जा सकता है वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । वहिरात्मा का अर्थ है कायादि मे ही आत्मबुद्धि रखनेवाली व्यक्ति । अन्तरात्मा उसे कहा जाता है जो अपने को कायादि से भिन्न और कायादि का अधिष्ठाता समझता है, किन्तु वह रागादि से ग्रस्त होता है । परमात्मा उन दोनो से भिन्न और वीतराग होता है । यह वीतराग परमात्मा ही ईश्वर है । कुछ अन्य आचार्यों ने इन तीनो आत्माओ का परिचय देते हुए यह कहा है कि-वहिरात्मा वह है जो मिथ्यादर्शनादि भावो मे परिणत हो । और अन्तरात्मा उसे कहा जाता हे जो सम्यग्दर्शनादि भावो मे परिणत हो । और परमात्मा उसे कहा जाता है जो केवलज्ञानादि से सम्पन्न हो ।

इन तीनो मे ऐकान्तिक भेद नहीं है । जो व्यक्तिरूप मे वाह्यात्मा होता है वह भी शक्ति=प्रच्छन्न रूप मे अन्तरात्मा और परमात्मा भी होता है । और जो व्यक्ति रूप मे अन्तरात्मा होता है वह शक्तिरूप मे परमात्मा और भूतपूर्वदृष्टि से वाह्यात्मा होता है । एवं जो व्यक्ति रूप मे परमात्मा होता है वह भूतपूर्वदृष्टि से वाह्यात्मा और अन्तरात्मा भी होता है ।

परमात्मा द्वारा उपदिष्ट आगमो मे जिस सयमधर्म का वर्णन है उस के पालन से मुक्ति होती है, मुक्ति का अर्थ है, समग्र कर्मो का क्षय । इस मुक्ति का आदिमूल परमात्मा का उपदेश ही होता है इसलिए ही परमात्मा को उपचार से उन का कर्ता कहा जाता है । आशय यह है कि राजा आदि का

अत एव भगवन्तमुद्दिश्याऽऽरोग्यादिप्रार्थना । सार्थका-ऽनर्थकचिन्तायां तु भाज्यमेतत्, चतुर्थभाषारूपत्वात्, इति ग्रन्थकृतैव ललितविस्तरायामुक्तम् । अप्रार्थनीये कर्तरि प्रार्थनाया विधिपालनबलेन शुभाध्यवसायमात्रफलत्वादिति निगर्वः ॥११॥

अस्त्वेवं मुक्तिकर्तृत्वम्, भवकर्तृत्वं तु कथ ?. अत आह—

मूलम्–तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः ।
तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति ॥१२॥

तदनासेवनात्=तदुक्तव्रताऽपालनादेव, यत्=यस्मात्, तत्त्वतः=परमार्थतः, संसारोऽपि जीवस्य भवति, अविरतिमूलत्वात् तस्येति भावः, तेन हेतुना, तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानम्=स्वहेतुक्रियाविरुद्धविधिबोधितोपासनाकत्वपरेण कर्तृत्वपदेन बोध्यमानम्

---

जैसे प्रसाद होता है तो प्रसाद से नियमबद्ध रोष-अप्रासाद भी होता है जिस से वह अन्यों के अनुग्रह और निग्रह का कर्ता होता है, ऐसा रोष अप्रासाद परमात्मा मे नहीं होता। तथापि जैसे चिन्तामणि मे रोष और प्रसाद न होने पर भी स्वभाव से ही उससे मनुष्य के वाञ्छित की सिद्धि होती है उसी प्रकार परमेश्वर की उपासना परमेश्वर वस्तु के महज स्वभाववश मनुष्य के लिये फलप्रद होत है। इसलिए जैसे चिन्तामणी के सम्पर्क से वाञ्छित की प्राप्ति होने से चिन्तामणी वाञ्छित का दाता कहा जाता है उसीप्रकार परमात्मा को उपासना से विभिन्न फलों की प्राप्ति से वह विभिन्न फलो का दाता या कर्ता कहा जाता है। और इसलिये भगवान से आरोग्यादि की प्रार्थना भी की जाती है। वह प्रार्थना सार्थक होती है या निरर्थक होती है इस प्रश्न का उत्तर भजना-अपेक्षाभेद से दिया जा सकता है जो चतुर्थ भाषा के रूप में प्रस्तुत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह समझा जाय कि प्रार्थना से परमात्मा प्रसन्न होकर आरोग्यादि को प्रदान करते हैं तो इस दृष्टि से प्रार्थना निरर्थक है। क्योंकि प्रार्थना से वीतराग परमात्मा के प्रसन्न होने की कल्पना असङ्गत है। और यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय कि परमात्मा की प्रार्थना मे ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जिस से आरोग्यादि की प्राप्ति होती है तो इस दृष्टि से प्रार्थना सार्थक है। इसलिये भगवान से आरोग्यादि की प्रार्थना सार्थक है या निरर्थक है इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि प्रार्थना 'स्यात् सार्थिका, स्यात् अनर्थिका'। इस विषय को मूल ग्रन्थकार हरिभद्रसूरिजीने 'ललित विस्तरा' मे स्पष्ट किया है। निष्कर्ष यह है कि कर्ता प्रार्थनीय न होने पर भी उसकी प्रार्थना का शास्त्र मे विधान होने से उस का पालन आवश्यक होता है और उस पालन से शुभ अध्यवसाय की उपलब्धि होती है। इस रीति से शुभाध्यवसाय की उत्पादिका प्रार्थना का विषय होने के कारण परमात्मा को कर्ता कहा जाता है ॥११॥

---

भाषा ४ प्रकार की होती है-१ सत्यभाषा, २, असत्यभाषा, सत्यासत्य मिश्रभाषा ४ अ-सत्या सत्य (व्यवहार) भाषा। इन में से वीतराग के प्रति प्रार्थना, यह व्यवहार नाम की चतुर्थ भाषा स्वरूप है-न सत्य न असत्य, किन्तु लाभप्रद प्रशस्त शब्दव्यवहार।

न दुष्यति, "अङ्गुल्यग्रे करिशतम्" इत्यादिवद् यथाकथञ्चिदुपचारेण व्यवहारनिर्वाहादिति भावः ॥१२॥

नन्वीदृशकल्पनायां को गुणः ? इत्यत्राह-

**मूलम्-कर्तायमिति तद्वाक्ये यतः केषाञ्चिदादरः ।**
**अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्तृत्वदेशना ॥१३॥**

'अयम्=ईश्वरः कर्ता' इति हेतोः तद्वाक्ये-ईश्वरवाक्ये सिद्धान्ते । 'अयं कर्ता' इति तद्वाक्ये प्रसिद्धवाक्ये वा, यतः **केषांचित्**=तथाविधभद्रकविनेयानाम्, **आदरः**-स्वरसवाहिश्रद्धात्मा भवति, **अतस्तदानुगुण्येन**=तथाविधविनेयश्रद्धाभिवृद्धये, **तस्य**=परमात्मनः **कर्तृत्वदेशना**=कर्तृत्वोपदेशः । श्रोतृभावाभिवृद्ध्यर्थो हि गुरोरुपदेशः, सा च कल्पितोदाहरणेनापि निर्वाह्यते, किं पुनरुपचारेण ? इति भावः ॥१३॥

## [आज्ञाविलोपन द्वारा भवकर्तृता]

पूर्व कारिका मे ईश्वर को मुक्ति कर्ता बताया गया है। और प्रस्तुत १२ वीं कारिका मे वह जगत् का कर्ता कैसे होता है इस बात का प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इसप्रकार है-

परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट व्रतो का सेवन न करने से ही जीव को वास्तवरूप मे ससार की प्राप्ति होती है, क्योकि ससार का मूल अविरति है। और उस का प्रतियोगीविधया प्रयोजक है विरति आदि। अतः उक्तरीत्या ससार के प्रयोजक का उपदेष्टा होने से यदि ईश्वर मे ससार के कर्तृत्व की कल्पना की जाय तो कोई दोष नहीं हो सकता, क्योकि संसार का यह कर्तृत्व ससारजनककृतिरूप वास्तविक कर्तृत्व नहीं है, अपितु औपचारिक कर्तृत्व है। अतः 'ईश्वर ससार का कर्ता है' इस का अर्थ है कि ईश्वर ऐसे व्रतो का उपदेष्टा है जिस का सेवन न करने से ससार बनता है। ईश्वर मे ससारकर्तृत्व का यह औपचारिक व्यवहार उसी प्रकार उपपन्न किया जा सकता है जिसप्रकार 'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्=अङगुल के अग्रभाग मे सौ हाथी खडे है' यह व्यवहार अङ्गुली के अग्रभाग से सौ हाथी की गिनती होने के आधार पर उपपन्न किया जाता है ॥१२॥

## (ईश्वर भक्ति में वृद्धि के लिये कर्तृत्व का उपदेश)

१३ वीं कारिका मे इस जिज्ञासा का समाधान किया गया है कि ईश्वर मे ससार के औपचारिक कर्तृत्व की कल्पना का क्या प्रयोजन है? कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

कतिपय भद्रशील शिष्यो को ईश्वर के वचन मे इसलिये आदर होता है कि वे 'ईश्वर कर्ता है' इस विश्वास से बद्ध होते है अथवा ईश्वर कर्ता है' इस प्रसिद्ध लाकोक्ति मे उन की श्रद्धा होती है। अत ऐसे शिष्यो को ईश्वर के प्रति श्रद्धा की अभिवृद्धि के अभिप्राय से परमात्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन आवश्यक होता है। आशय यह है कि श्रोता के भाव का सवर्धन ही गुरु के उपदेश का फल

साक्षादपि कर्तृत्वं समर्थयति-

मूलम्-परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव वेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥१४॥

परमैश्वर्ययुक्तत्वात्= निश्चयतो घनाऽऽवृतस्यापि रवेः प्रकाशस्वभावत्ववत् कर्माऽऽवृतस्याऽप्यात्मनः शुद्ध-बुद्धैकस्वभावत्वेनोत्कृष्टकेवलज्ञानाद्यतिशयशालित्वात् , आत्मैव=जीव एव वा, ईश्वरो मतः=ईश्वरपदेन संकेतितः । स च-जीवश्च कर्ता-साक्षात्कर्ता इति हेतोः, निर्दोषः-उपचारेणाऽप्यकलङ्कितः, कर्तृवादः-ईश्वरकर्तृत्वोपदेशः, व्यवस्थितः-प्रमाणसिद्धः। अत एव "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" इत्यादिका श्रुतिरप्युपपद्यते जीवस्य निश्चयतः सर्वज्ञत्वात् , अन्यथा रागाद्यावरणविलये तदाविर्भावानुपपत्तेः ।

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" ॥
[गीता अ. १५ श्लो. १७] इत्यादिकमप्युपपद्यते, आवृतस्वरूपादनावृतस्वरूपस्य भिन्नत्वात् चैतन्यात्मकमहासामान्येन लोकत्रयावेशाद् ग्राह्याकारक्रोडीकृतत्वेन तद्धरणाच्च, इत्यादिरीत्या यथाऽऽगमं पराभिप्राय उपपादनीयः ॥१४॥

---

होता है। और यह कार्य जब कल्पित उदाहरण से भी सम्पन्न करना शास्त्रसम्मत है तब इस कार्य को उपचार द्वारा सम्पन्न करना युक्त ही है इस मे क्या सदेह ? ॥१३॥

## [आत्मा ही परमात्मा होने से निर्बाध कर्तृत्व]

पूर्व कारिका तक ईश्वर मे कर्तृत्व का समर्थन उपचार द्वारा किया गया है किन्तु प्रस्तुत १४ वीं कारिका मे ईश्वर के वास्तव कर्तृत्व का समर्थन किया जाता है ॥ कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

जिस प्रकार सूर्य मेघमण्डल से आच्छन्न होने पर भी निश्चय दृष्टि से स्वभावत प्रकाशात्मक ही रहता है उसी प्रकार विविधकर्मो मे आवृत भी आत्मा स्वभावत शुद्धबुद्ध स्वरूप ही रहता है । अत एव उस समय भी उस मे केवलज्ञानादि के अतिशय अक्षुण्ण रहते हैं । और आत्मा की यह शुद्धबुद्धता एवं केवलज्ञानादि के अतिशयों की संपन्नता ही जीव का परमैश्वर्य से सम्पन्न होना है और इस निश्चयदृष्टिसम्मत सार्वदिक परमैश्वर्य के कारण जीव को ही ईश्वर माना जाता है--एवं जीव निर्विवाद रूप से वास्तविक कर्ता है और जब जीव ही ईश्वर है, तो ईश्वर का वास्तव कर्तृत्व भी निर्विवाद है। अत ईश्वरकर्तृत्ववाद निर्दोष अर्थात् अनौपचारिक रूप मे प्रमाणसिद्ध है । जीव के निश्चयदृष्ट्या सर्वज्ञ होने के कारण 'विश्वतश्चक्षु उत विश्वतो मुख' इत्यादि श्रुति द्वारा उसे सर्वदर्शी और सर्वोपदेष्टा आदि बताना भी उपपन्न हो जाता है । जीव की सार्वकालिक सर्वज्ञता स्वीकार करना परमावश्यक है क्योकि यदि उस मे सहज सर्वज्ञता न होगी तो रागादि आवरणों का विलय होने पर उस का आविर्भाव न हो सकेगा। गीता मे परमात्मा को अन्य आत्माओ से भिन्न उत्तम पुरुष कहा गया है और तीनों लोक मे आविष्ट होकर उन का शाश्वत धारक कहा गया है। गीता का यह कथन भी जीवेश्वरत्व पक्ष मे निर्बाधरूप से उपपन्न हो सकता है, क्योंकि रागादि से आवृत आत्मस्वरूप से रागादि

यतः—

मूलम्-शास्त्रकारा महात्मानः प्रायो वीतस्पृहा भवे ।
सत्त्वार्थसंप्रवृत्ताश्च कथं तेऽयुक्तभाषिणः ? ॥१५॥

शास्त्रकाराः प्रायः लोकायतादीन् परलोकाऽभीरून विहाय, महात्मानः=धर्माभिमुखाः भवे=संसारे, वीतस्पृहाः=लोकमानख्याति-धनलिप्सादिरहिताः सत्त्वार्थसंप्रवृत्ताश्च=यथाबोधं परोपकारप्रवृत्ताश्च, अन्यथेदृशप्रवृत्त्ययोगतः, ततः कथं तेऽयुक्तभाषिणः-ज्ञात्वा विरुद्धभाषिणः ? विरोधः खलु जल-ज्वलनयोरिव परोपकारित्व-विरुद्धभाषित्वयोरिति भावः ॥१५॥

ततः किम् ? इत्याह—

मूलम्-अभिप्रायस्ततस्तेषां सम्यग् मृग्यो हितैषिणा ।
न्यायशास्त्राऽविरोधेन यथाह मनुरप्यदः ॥१६॥

ततः-अविरुद्धभाषित्वात्, तेषां-परोपकारार्थं प्रवृत्तानां शास्त्रकाराणाम्, अभिप्रायः शब्दतात्पर्यात्मा, सम्यग्=व्यासङ्गपरिहारेण, मृग्यः=उन्नेयः, हितैषिणा=मुमुक्षुणा, न्याय-

से अनावृत आत्मस्वरूप भिन्न कहकर उसे उत्तम पुरुष और परमात्मा कहना उचित ही है और चैतन्यरूप महासामान्य के द्वारा लोकत्रय मे उस का आवेश और ग्राह्य आकार मे लोकत्रय को अङ्कस्थित कर उन का भरण सभव होने से आवेश द्वारा उसे लोकत्रय का धारक कहना भी समीचीन ही है। इस प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध मे जो नैयायिक का अभिप्राय है उस का समर्थन और उपपादन अपने शास्त्र की रीति से जीवेश्वरत्व पक्ष मे भी किया जा सकता है ॥१४।

[ निःस्पृह शास्त्रकार अयुक्तभाषी नही होते ]

१५ वीं कारिका मे उन सभी विद्वानो को विश्वसनीय बताया गया है जो परलोक के सम्बन्ध मे भीरु होने के कारण अनुचित बात कहना नहीं चाहते। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

प्राय सभी शास्त्रकार जो परलोक के सम्बन्ध मे निर्भय रहनेवाले चार्वाकादि की श्रेणी मे नहीं आते-महात्मा होते हैं। उन की सम्पूर्ण प्रवृत्ति धर्ममुखी होती है। संसार मे उन्हें मान-ख्याति धनादि किसी वस्तु की स्पृहा नहीं होती। वे अपनी मति के अनुसार परोपकार मे निरत होते हैं। इसीलिये वे निर्दोष कर्मों की शिक्षा देने के लिये शास्त्रो की रचना करते हैं, अत वे जान बूझकर कोई विरुद्ध बात नहीं कह सकते चूं कि परोपकार की प्रवृत्ति और जानबूझकर विरुद्ध बात का कथन इन दोनो मे पानी और अग्नि के समान परस्पर विरोध है ॥१५॥

[युक्ति और आगम से शास्त्रकाराभिप्राय का अन्वेषण]

पूर्व कारिका मे सभी शास्त्रकारो की प्रशसा की गयी है। इस प्रशसा को सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि क्या जैन शास्त्रकारो के समान ही अन्य शास्त्रकारो की बातें स्वीकार्य हैं ? १६ वीं कारिका मे इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—

कारिका का आशय यह है कि जब सभी शास्त्रकार परोपकार मे प्रवृत्त होने के कारण अनुचित बात कहना नहीं पसन्द करते तो यह आवश्यक है कि उनके जो भी शब्द हैं उन के तात्पर्य को इस प्रकार

शास्त्राविरोधेन-युक्त्याऽऽगमबाधा यथा न स्यात् तथा, न तु यथाश्रुतग्रहणमात्रेणाऽऽन्ध्ये मज्जनीयं मन., अन्यथा 'ग्रावाणः प्लवन्ते' इत्यादिश्रुतिश्रवणेन गगनमेवाऽवलोकनीयं स्यात्। अत्र पराऽभियुक्तसंमतिमाह-यथा मनुरपि अदः-वक्ष्यमाणम् आह ॥१६॥

किम् ?, इत्याह-

मूलम्-आर्षं च धर्मशास्त्रं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥१७॥

आर्षं च-वेदादि, धर्मशास्त्रं च पुराणादि । 'आर्षं धर्मोपदेशं च' इति क्वचित् पाठः, तत्राऽप्ययमेवार्थः-आर्षं-मन्वादिवाक्यम्, धर्मजनक उपदेशः धर्मोपदेशः, धर्मस्येश्वरस्य वोपदेशो धर्मोपदेशस्तं, 'वेदम्' इत्यन्ये । वेदशास्त्राविरोधिना--परस्परं तदुभयाऽविरोधिना तर्केण यः अनुसंधत्ते=तदर्थमनुस्मरति, स धर्मं वेद=जानाति, नेतरः=ऊहरहितः । तस्मादीश्वरकर्तृ-

समझने का प्रयत्न किया जाय जिस से मुमुक्षु के मार्ग मे कोई कठिनाई न हो और युक्ति तथा शास्त्र का कोई विरोध न हो। ऐसा नहीं होना चाहिये कि उनके शब्दों से जो भी अर्थ आपाततः प्रतीत हो उसे ही परमार्थ मानकर उसी मे अपने मन को अभिनिविष्ट कर दिया जाय, क्योंकि ऐसा होने पर 'ग्रावाण प्लवन्ते=पत्थर तैरते हैं' ऐसे वेदवचनों को सुनकर आश्चर्यचकित हो आकाश के प्रति देखने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है । इस विषय मे आर्हतो की ही सम्मति है इतना ही नहीं अपितु अन्य मतावलम्बियों के सम्मान्य पुरुष की भी सम्मति है । उदाहरणार्थ मनु के इस आशय का वचन प्रस्तुत किया जा सकता है—

(धर्म तत्त्व के बोध का उपाय तर्कानुसंधान-मनुवचन)

पूर्व कारिका मे मनु के जिस वचन का संकेत किया गया है, १७ वीं कारिका उस वचन के रूप मे ही अवतरित की गई हैं। कारिका का अर्थ यह है—

जो व्यक्ति ऋषिदृष्ट वेदादि शास्त्रों को और पुराणादि धर्मशास्त्रों को वेद और शास्त्र के अविरोधी (शास्त्र से विरुद्ध न पडने वाले) तर्क के द्वारा समझता है अर्थात् ऐसे तर्क मे वेद और धर्मशास्त्र के अर्थ का निर्धारण करता है जो तर्क वेद और शास्त्रों से विरुद्ध न हो, वही व्यक्ति धर्म के तत्त्व को जान पाता है। और जो तर्क की सहायता नहीं लेता वह धर्म के तत्त्व को नहीं समझ सकता। व्याख्याकार ने इस कारिका की व्याख्या करते हुये 'आर्षं धर्मोपदेश च' इस मनुवचन के पाठान्तर का भी उल्लेख किया हैं और उस का भी वही अर्थ किया है 'जो आर्षं च धर्मशास्त्र च' इस पाट से अभिमत है। कुछ अन्य लोगों द्वारा 'आर्षं धर्मोपदेश च' इस पाठ का दूसरा अर्थ किया गया है उस का उल्लेख व्याख्याकार ने इस प्रकार किया है कि आर्ष शब्द का अर्थ है मनुआदि ऋषियों का वाक्य जैसे 'मनुस्मृति' आदि ग्रन्थ, और 'धर्मोपदेश' शब्द का अर्थ है वेद, क्योंकि वेदके पाठ धर्म होता है, और वेद से धर्म और ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता है ।

शास्त्र के तात्पर्य का निर्णय करने के लिये शास्त्राऽविरोधी तर्क के अवलम्बन की आवश्यकता के सम्बन्ध में आर्हतों और पराभिमत मनु आदि शिष्टपुरुषों की सम्मति बताकर व्याख्याकार ने

स्वप्रतिपादकपरागमस्याऽप्ययमेवाऽऽशयो युक्तः, इति सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतत्वेन तत्प्रमाण्यमुपपाद-नीयम् । द्रव्यासत्याभिधानं चेदं ग्रन्थकारस्य तत्प्रमाण्याभ्युपगन्तृश्रोतृपरिबोधार्थम् ।

इत्येवं पटुरीश्वरव्यतिकरः सत्तर्कसंपर्कभाग्, येषां विस्मितमातनोति न मनस्ते नाम वामाशयाः ।
अस्माकं तु स एक एव शरणं देवाधिदेवः सुखाम्भोधौ यस्य भवन्ति बिन्दव इव स्वः-सद्मनां संपदः ॥१७॥

कारिकाकार का यह आशय बताया है कि ईश्वर मे जगत्कर्तृत्व का प्रतिपादन करने वाले अन्य शास्त्रो का भी अभिप्राय शास्त्राऽविरोधी तर्कों से ही निश्चित करना उचित है ।

ऐसा करने से सम्यग्दृष्टि से परिगृहीत होने के कारण अन्यशास्त्रों का भी प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है । व्याख्याकार यशोविजयजी का कहना है कि 'तर्क की सहायता से वेद और पुराण आदि से भी धर्म का ज्ञान होता है' इस द्रव्याऽसत्य का अभिधान ग्रन्थकार ने इस दृष्टि से किया है जिस से वेद और पुराण को प्रमाण माननेवाले श्रोताओ को भी शुद्ध धर्म ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मील सके ।

ईश्वर कर्तृत्व के सम्बन्ध मे अब तक के सम्पूर्ण विचारो का उपसंहार करते हुए व्याख्याकार ने अपना अन्तिम अभिमत प्रकट किया है कि-'समीचीन तर्कों के सम्पर्क से ईश्वर के कर्तृत्व के सम्बन्ध मे जो आर्हत सम्मत प्रभावपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है, उस से जिन मनुष्यो का मन हर्ष और विस्मय से उत्फुल्ल नहीं होता वे निःसदेह हृदय की मलीनता से ग्रस्त है अर्थात् उनका हृदय यथार्थ वस्तु को ग्रहण करने के अयोग्य है । हम आर्हतो के तो एकमात्र वही देवाधिदेव आश्रय है-स्वर्गस्थ देवताओ की सम्पत्ति जिन के सुख समुद्र के आगे बिन्दु के समान है ।।१७॥

## [ ईश्वरकर्तृत्ववाद समाप्त ]



वार्त्तान्तरमाह–

मूलम्–प्रधानोद्भवमन्ये तु मन्यन्ते सर्वमेव हि ।
महदादिक्रमेणेह कार्यजातं विपश्चितः ॥१८॥

अन्ये तु विपश्चितः=सांख्याः इह=सामग्रीविचारे, सर्वमेव हि कार्यजातं महदादिक्रमेण प्रधानोद्भवं मन्यन्ते ।

तथाहि–तेषां पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि, तत्राऽकारणं अकार्यं च कूटस्थनित्यचैतन्यरूप आत्मा । प्रकृतिरचेतना, महदाद्युत्पादकाऽशेषशक्तिप्रचिता, आदिकारणम्, परिणामिनी च । तदभावे हि परिमितं व्यक्तं न स्यात्, तथोत्पादकहेत्वभावात् । न च स्याद् भेदानामन्वयः, तन्मयकारणप्रभवत्वं विना तज्जातिमत्कार्यानुपलब्धेः । न च बुद्धिरेव कार्यधर्मानुविधायिनी, असाधारणत्वात् अनित्यत्वाच्च । न च महदादिहेतुशक्तिप्रवृत्तिः स्यात् । न हि पटादिजननी शक्तिस्तन्तुवायादिकमाधारं विना प्रवर्तते । तथा, कारण-कार्यविभागोऽपि न स्यात्, महदादौ कार्यत्वव्यवहारस्य संबन्धिसापेक्षत्वात् । न च स्यात् क्षीरावस्थायां क्षीरं दध्न इव प्रलये भूतादीनां तन्मात्रादिक्रमेणाऽविवेकरूपोऽविभाग इति प्रकृतिसिद्धिः । तदुक्तम्—

१८ वीं कारिका से सांख्यदर्शन के सिद्धान्त का विचार प्रस्तुत किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

[सांख्यदर्शन के सिद्धान्त]

सांख्य शास्त्र के वेत्ता अन्य विद्वान् सम्पूर्ण कार्यों को महत् तत्त्व आदि के क्रम से प्रकृति से उत्पन्न मानते हैं । उन का कहना है-जिन तत्त्वों से जगत् का विस्तार होता है उन की संख्या पच्चीश है । उन में दो तत्त्व सर्वापेक्षया मुख्य हैं । जिन में एक तत्त्व वह है जिसे आत्मा कहा जाता है, वह कूटस्थ-निर्विकार नित्य चैतन्यरूप है । वह न किसी का कारण होता है और न किसी का कार्य होता है । और दूसरा तत्त्व वह है जिसे प्रकृति कहा जाता है, वह अचेतन होती है और महत् तत्त्वादि अन्य २३ तत्वों को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न होती है । वह सब का आदि कारण है और उस में महत्तत्त्व आदि रूपों में परिणत होने की योग्यता रहती है । उसे मानना अति आवश्यक है क्योंकि (१) उस के अभाव में परिमित एवं व्यक्त जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसे उत्पन्न करनेवाला दूसरा कोई हेतु नहीं है । (२) उसे मानने की आवश्यकता इसलिए भी है जिस से विभिन्न कार्यों में एकरूपता हो सके, क्योंकि कार्यों की उत्पत्ति यदि एक सदृश कारण से न होगी तो कार्यों में कारण के द्वारा एकजातीयता की उपलब्धि न हो सकेगी । यहाँ एकरूपता का कार्य बुद्धि यानी महत् तत्त्व से नहीं सम्पन्न हो सकता है चूं कि वह बुद्धि सम्पूर्ण कार्यधर्मों का अनुविधान नहीं कर सकती, इसका कारण-वह सर्वसाधारण नहीं होती और स्वयं अनित्य होती है । (३) प्रकृति तत्त्व मानने का यह भी आधार है कि प्रकृति के अभाव में महत्तत्त्व आदि कारण शक्तियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण शक्तियों की प्रवृत्ति किसी एक सामान्य आधार द्वारा ही होती है । जैसे पट आदि को उत्पन्न करने वाली तुरी वेमा आदि शक्तियां तन्तुवाय रूपी आधार के बिना नहीं प्रवृत्त होती । (४) यह भी कारण

"भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितःप्रवृत्तेश्च ।
कारण-कार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥१॥" (सांख्यकारिका १५) इति ।

न चाऽसदेव महदादिकमुत्पद्यताम्, किं तत्समन्वयार्थं प्रकृत्यनुसरणेन ? इति वाच्यम्, असतोऽनुत्पत्तेः । तदुक्तम्-

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥" [सां० का० ९]

असतः शशविषाणादेः सत्त्वस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् सत एव हि सत्कारणम्, तद्धर्मत्वात्, दृष्टं च तिलेषु सत एव तैलस्य निष्पीडनेन करणम्, असतस्तु करणे न निदर्शनम् । न च विद्यमानप्रागभावप्रतियोगित्वरूपस्याऽसत्त्वस्य विद्यमानत्वरूपस्य च सत्त्वस्य न विरोध इति साम्प्रतम्, लाघवादविद्यमानत्वस्यैवाऽसत्त्वरूपत्वात्, तेनैव सर्वत्राऽनुगताऽसत्त्वव्यवहारात् ।

---

है कि प्रकृति के अभाव मे कार्य और कारण का विभाग भी नहीं हो सकता क्योंकि कार्यत्व का व्यवहार कारण-सापेक्ष होता है । अत यदि महत् तत्त्व आदि का कोई कारण न होगा तो उन मे कार्यत्व का व्यवहार नहीं हो सकेगा । (६) प्रकृतितत्त्वसमर्थक यह भी एक तर्क है कि प्रकृति के अभाव मे प्रलयावस्था मे भूत आदि कार्यों का तन्मात्र आदि के क्रम से एक कारणावस्था मे अविभाग-अविवेक -अपार्थक्य न हो सकेगा जिस का होना, ठीक उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार दुग्ध की अवस्था मे दुग्ध और दधि का अविभाग होता है ।

प्रकृति के अस्तित्व के समर्थन मे कहे गये इन समस्त हेतुओ को ईश्वरकृष्ण ने अपने 'सांख्य-कारिका' नामक ग्रन्थ मे १५ वी कारिका से अभिहित किया है । जिस का यह अर्थ है कि कार्यो के परिमित होने से और कारण के साथ अन्वय होने से और कारण शक्तियो की प्रवृत्ति होने से तथा कारण-कार्य का विभाग होने से और संपूर्ण कार्यो का एक कारणावस्था मे अविभाग होने से प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

## [सत्कार्यवाद में हेतुपञ्चक]

यह शंका हो सकती है कि- महत्तत्त्वादि कार्यों की उत्पत्ति के पूर्व असत् की ही उत्पत्ति मानी जाय तो कारण मे पूर्व से ही उस के अन्वय की आवश्यकता न होगी । अत उस के लिये प्रकृति के अस्तित्व की कल्पना अनावश्यक है' किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती, जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने 'असदकरणात्०' इस कारिका मे स्पष्ट किया है । कारिका का आशय यह है कि जो असत् पदार्थ हैं उन को अस्तित्व मे आते हुए आज तक कभी नहीं देखा गया । इसलिये प्रथमत. सत्पदार्थ ही होता है । अत असत्पदार्थ न कारण ही होता, न कार्य ही होता है । कार्य कारण का धर्म होता है । असत् मानने पर वह कारण का धर्म नहीं हो सकता । अत. उसे उत्पत्ति पूर्व मे भी कारण मे सत् मानना आवश्यक है । यह देखा भी जाता है कि तिल मे प्रथमतः विद्यमान ही तैल का तिल-पेषण करने पर प्रादुर्भाव होता है । असत्पदार्थ की उत्पत्ति होने का कोई भी दृष्टान्त नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि-'कार्य का उत्पत्ति के पूर्व मे जो असत्त्व होता है वह विद्यमान प्रागभाव का प्रतियोगित्वरूप होता है और उत्पत्ति होने पर जो उस का सत्त्व होता है वह विद्यमानत्वरूप होता है । अतः इस प्रकार के असत्त्व और सत्त्व मे कोई विरोध नहीं है । पूर्वकाल मे जिस का प्राग-

तथा, उपादानग्रहणादपि सत् कार्यम्, अन्यथा 'शालिफलार्थिनः शालिबीजस्यैवोपादानम्, न कोद्रवबीजादेरि'ति प्रतिनियमानुपपत्तेः, फलाऽयोगस्योभयत्राऽविशेषात् । 'उपादानेन ग्रहणं संबन्धस्ततोऽसतः संबन्धाभावात्' ! इत्यन्ये । तथा, सर्वसंभवाऽभावात् सत् कार्यम्, असतः कारणेऽसंबद्धाऽविशेषे सर्वं सर्वस्माद् भवेत्, न चैवम्, तस्मात् कार्यं प्रागुत्पत्तेः कारणेन सह संबद्धम्। यथाहुः–

"असत्त्वाद् नास्ति संबन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः ।
असंबद्धेषु चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥१॥" इति । [ ]

भाव रहा उत्तरकाल में उस का भाव मानने में कोई असङ्गति नहीं है। एक काल में ही किसी वस्तु का भावाभाव विरुद्ध हो सकता है, भिन्नकाल मे नहीं । शशसींग का दृष्टान्त असत् की अनुत्पत्ति बताने में उचित नहीं हो सकता। क्योंकि शशसींग का प्रागभाव न होकर सार्वदिक अभाव होता है, प्रागभाव उसी का होता है-बाद में कभी जिस का भाव सम्भव हो।'-तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि असत्त्व को विद्यमान प्रागभाव प्रतियोगित्वरूप मानने में गौरव है अत. अविद्यमानत्व अर्थात् सपूर्णकाल में अभाव को ही असत्त्वरूप मानना लाघव के कारण उचित है. उसी से सर्वत्र असत्त्व के अनुगत व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है। अत शशसींग में सार्वदिक अभाव से असत्त्व व्यवहार का और कार्यों मे प्रागभावप्रतियोगित्वरूप असत्त्व से असत्त्व व्यवहार का उपपादन करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर व्यवहार की अनुगतरूपता का भङ्ग हो जाता है।

कार्यविशेष के लिये कारणविशेष को ही नियमित रूप से ग्रहण किया जाता है, इसलिये भी उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अस्तित्व मानना आवश्यक है। यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् होगा तो कार्य के लिये सारे पदार्थ समान होंगे। और इस का फल यह होगा कि शालि=उत्तमकोटि का धान्य जिस से उत्कृष्ट कोटि का चावल प्राप्त होता है-उसके लाभ के लिये किसान शालि बीज का ही नियम से उपादान न कर सकेगा। कोद्रव यानी निकृष्ट धान्य के बीज को ग्रहण करने में भी उस की प्रवृत्ति की प्रसक्ति हो सकती है । क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व शक्ति का असत्त्व शालिबीज और कोद्रव के बीज दोनों में समान है । तो फिर क्या कारण है कि किसान शालि के लाभ के लिये शालि बीज का ही उपादान करे और कोद्रव के बीज का उपादान न करे। उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अस्तित्व मानने पर इस प्रश्न का समाधान सुकर होता है। वह इस प्रकार कि शालि शालिबीज मे प्रथमतः रहता है और कोद्रव के बीज में नहीं रहता है इसलिये किसान समझता है कि शालिबीज से ही शालि का लाभ हो सकता है कोद्रव के बीज से नहीं । अत. वह शालि लाभ के लिये शालि बीज को ही ग्रहण करता है न कि कोद्रवबीज को।

### [ उपादान और कार्य के सम्बन्ध की अनुपपत्ति

अन्य विद्वान कारिका मे आये 'उपादानग्रहण' शब्द का अर्थ उपादान के साथ कार्यसम्बन्ध बताकर उससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व असत् माना जायगा तो कारण के साथ उस का सम्बन्ध न हो सकेगा । क्योंकि सम्बन्ध सत्पदार्थों मे ही होता है । असत् और सत् का सम्बन्ध नहीं होता । कार्य को उत्पत्ति के पहले सत् मानना इसलिये भी आवश्यक है

तथा, अशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसङ्गाच्छक्तस्य जनकत्वं वाच्यम्, शक्तिश्चास्य न सर्वत्र, तथैवाऽतिप्रसङ्गात्, किन्तु क्वचिदेव, इति कथमसति कार्ये कारणस्य शक्तिर्नियता स्यात्, असतो विषयत्वाऽयोगात्? तस्मात्, कारणात् प्रागपि शक्यं सदेव। तथा कारणभावात्=कारणतादात्म्यादपि सत् कार्यं, नाऽवयवी अवयवेभ्यो भिद्यते, तथाप्रतीत्यभावात्; 'कपालं घटीभूतम्, तन्तुः पटीभूतः, स्वर्णं कुण्डलीभूतम्' इत्यादिप्रतीतेः। तस्माद् महदादिकार्यस्योत्पत्तेः प्रागपि यत्र सत्त्वं सा प्रकृतिः।

कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति नियत पदार्थ से ही होती है सब पदार्थों से उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु यदि पदार्थ से असत्कार्य की उत्पत्ति होगी तो यह मानना होगा कि पदार्थ अपने से असम्बद्ध वस्तु का उत्पादन करता है, ऐसी स्थिति मे किसी नियत पदार्थ से ही कार्य की उत्पत्ति न होकर सपूर्ण पदार्थों से सभी कार्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि कार्य जैसे किसी एक नियत पदार्थ से असम्बद्ध होता है उसीप्रकार सभी पदार्थों से असम्बद्ध होता है। इसलिये इस बात मे कोई व्यवस्था न हो सकेगी कि अमुक कार्य अमुक पदार्थ से ही उत्पन्न हो और अन्य से न हो। किन्तु कार्य को उत्पत्ति के पूर्व सत् मानने पर यह सङ्कट नहीं उपस्थित हो सकता, क्योंकि तब कहा जा सकता है–तत्तत्कार्य का तत्तत्पदार्थ के ही साथ सम्बन्ध होता है सब पदार्थों के साथ नहीं होता और पदार्थ का यह स्वभाव है कि वह सम्बद्ध कार्य का ही उत्पादक होता है असम्बद्ध का नहीं, अत. सब पदार्थों से सब कार्यों की उत्पत्ति का आपादन नहीं हो सकता। जैसा कि कहा गया है कि—

'उत्पत्ति के पूर्व कार्य का असत्त्व मानने पर सत् कारणो के साथ असत् कार्य का सम्बन्ध न हो सकेगा। और यदि असम्बद्ध पदार्थो मे ही कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो अमुक पदार्थ ही मे अमुक कार्य की उत्पत्ति हो अन्य में न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती।'

उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् इसलिये भी मानना आवश्यक है कि जो पदार्थ जिस कार्य के उत्पादन की शक्ति से शून्य होता है उस से उस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु जिस पदार्थ मे जिस कार्य के उत्पादन की शक्ति होती है उसी से उसकी उत्पत्ति होती है, और तत्तत्कार्य के उत्पादन की शक्ति सर्वत्र न होकर नियत पदार्थो मे ही होती है। किन्तु यह बात उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् मानने पर ही बन सकती है असत् मानने पर नहीं, क्योंकि असत् वस्तु किसी पदार्थ का शक्य नहीं हो सकती है। क्योंकि शक्य-शक्तभाव भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही है। अत एव वह सत् पदार्थों के ही बीच सम्भव हो सकता है, सत् और असत् के बीच सम्भव नहीं हो सकता। उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् मानना इसलिये भी आवश्यक है कि उस मे कारण का तादात्म्य होता है। यदि वह असत् होगा तो उस मे कारण का तादात्म्य न हो सकेगा क्योंकि सत् और असत् प्रकाश और अन्धकार के समान अत्यन्त विलक्षण है, अत एव उन मे तादात्म्य कथमपि सभव नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि– कार्य अवयवी होता है और कारण उस का अवयव होता है अत कार्य मे कारण का तादात्म्य मानना असङ्गत है। अतः कार्य मे कारण का तादात्म्य बता कर उसके द्वारा उत्पत्ति के पूर्व कार्य के सत् होने का समर्थन करना उचित नहीं हो सकता'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अवयव-अवयवी मे अवयवो की भिन्नता की प्रतीति न होने से अवयवी मे अवयवो का भेद

ततो बुद्ध्यपरनामकं महत्तत्त्वमुत्पद्यते, न हि चैतन्यस्य स्वभावतो विषयावच्छिन्नत्वम्, अनिर्मोक्षापत्तेः। नापि प्रकृत्यधीनं तत्, तस्या अपि नित्यतया तद्दोषानुद्धारात्। नापि घटादिरेवाऽऽहत्य चैतन्यावच्छिन्नः, दृष्टाऽदृष्टतत्त्वानुपपत्तेः। न चेन्द्रियमात्रापेक्षो घटादिचैतन्यावच्छेदः,

स्वीकार्य नहीं हो सकता। अपितु 'कपाल घट हो गया, तन्तु पट हो गया, सुवर्ण कुण्डल हो गया' इन सार्वजनिक प्रतीतियो के अनुरोध से अवयव और अवयवी का तादात्म्य ही सिद्ध होता है। इन सब युक्तियो का निष्कर्ष यह है कि महत्तत्त्वादि पदार्थ कार्य है अत एव उत्पत्ति के पहले उनका अस्तित्व मानना आवश्यक है और यह अस्तित्व किसी आधार मे ही हो सकता है। अत महदादि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व जिस आधार मे विद्यमान होंगे उसी का नाम प्रकृति है। इस प्रकार सत्कार्यवाद की उपपत्ति के लिये प्रकृति का अस्तित्व मानना अनिवार्य है।

[ महत्तत्त्व से चैतन्यावच्छेद और श्वासादि का नियमन ]

प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है जिसका दूसरा नाम बुद्धि है। इसी के द्वारा चैतन्य-स्वरूप पुरुष के साथ विषयावच्छिन्नत्व लक्षण विषय का सम्बन्ध बनता है। यदि उस का अस्तित्व न माना जायगा तो पुरुष के साथ विषय का सम्बन्ध स्वाभाविक मानना होगा और उस स्थिति मे विषय और पुरुष का सम्बन्ध विच्छेद न हो सकने से पुरुष का कभी मोक्ष न हो सकेगा। और अनित्यबुद्धि की सत्ता स्वीकार कर उसके द्वारा पुरुष के साथ विषय का सम्बन्ध मानने पर बुद्धि की निवृत्ति होने पर विषय के साथ पुरुष के सम्बन्ध का विच्छेद संभव होने से पुरुष के मोक्ष मे कोई बाधा नहीं हो सकती। बुद्धि का अस्तित्व न मानकर पुरुष के साथ विषय का सम्बन्ध यदि प्रकृति-द्वारा माना जाय तो पुरुष और विषय का सम्बन्ध स्वाभाविक तो नहीं होगा किन्तु उसका उच्छेद इस पक्ष मे भी न हो सकेगा, क्योंकि प्रकृति नित्य है। अत· उसकी निवृत्ति कभी भी सम्भवित न होने से उसके द्वारा पुरुष के साथ विषय का जो सम्बन्ध होगा उसकी भी कभी निवृत्ति न हो सकेगी। फलत· इस पक्षमे भी पुरुष का मोक्ष न हो सकेगा।

यदि यह कहा जाय कि–'चैतन्यस्वरूप पुरुष के साथ घटादि विषयो के सम्बन्ध को किसी अन्य के द्वारा न मानकर सीधे विषयप्रयुक्त ही माना जाय तो यह आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि विषयो के अनित्य होने से पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध भी अनित्य होगा और विषयो की निवृत्ति होने पर उस सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाने से पुरुष का मोक्ष होने मे कोई बाधा न होगी–'। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि चैतन्य के साथ विषयो का अन्यनिरपेक्ष सम्बन्ध मानने पर सभी विषय चैतन्य से सम्बद्ध होंगे, अतः विषयो मे दृष्ट-अदृष्ट का भेद न हो सकेगा। अर्थात् जितने विषय एक काल मे विद्यमान होगे वे सब चैतन्य से स्वत·सम्बद्ध होने के कारण दृष्ट ही होंगे। उनमे कोई अदृष्ट न हो सकेगा जबकि स्थिति यह है कि जब एक वस्तु दृष्ट होती है तब दूसरी वस्तु अदृष्ट रहती है। जैसे घटादि के दर्शनकाल मे पटादि अदृष्ट रहता है। यदि यह कहा जाय कि–'चैतन्य के साथ घटादि विषयो का सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा मानने से इस आपत्ति का परिहार हो सकता है, क्योंकि इन्द्रिय के अव्यापक होने से उसके द्वारा सभी विषयो का चैतन्य के साथ एकसाथ सम्बन्ध न हो सकेगा। अतः जिस समय जो विषय इन्द्रिय द्वारा चैतन्य से सम्बद्ध होगा उस समय वही विषय दृष्ट

व्यासङ्गानुपपत्तेः । अतो यत्संबद्धेन्द्रियस्य विषयचैतन्यावच्छेदनियामकत्वम् , यद्व्यापाराच्च सुषुप्ताविन्द्रियादिव्यापारविरतावपि श्वास-प्रश्वासादि, तद् महत्तत्त्वम् । तस्य धर्मा ज्ञाना-ऽज्ञानै-श्वर्या-ऽनैश्वर्य-वैराग्या-ऽवैराग्य-धर्मा-ऽधर्मरूपा अष्टौ, बुद्धि-सुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्ना अपि, भावनायास्तैरनङ्गीकारात् , अनुभवस्यैव स्मृतिपर्यन्तं सूक्ष्मरूपतयाऽवस्थानात् । तस्य ज्ञानरूप-परिणामेन संबद्धो विषयः, पुरुषस्य स्वरूपतिरोधायकः । एवं च बुद्धितत्त्वनाशादेव पुंसो विषयावच्छेदाभावाद् मोक्षः । भेदाऽग्रहाच्च 'चेतनोऽहं करोमि' इत्यध्यवसायः, अचेतनप्रकृति-कार्याया बुद्धेश्चैतन्याभिमानानुपपत्त्यैव स्वाभाविकचैतन्यरूपस्य पुंसः सिद्धेः । आलोचनं व्या-

होगा अन्य विषय दृष्ट नहीं होगा-' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जब किसी इन्द्रिय द्वारा किसी एक विषय का चैतन्य के साथ सम्बन्ध हो जायगा तब विषयान्तर का उस इन्द्रिय द्वारा चैतन्य के साथ सम्बन्ध न हो सकेगा । क्योंकि उस विषय के साथ उस इन्द्रिय के सम्बन्ध का कोई विच्छेदक न होगा । फलत विभिन्न विषयो मे विभिन्न विषयो के साथ इन्द्रिय सपर्क रूप इन्द्रिय का व्यासङ्ग न हो सकेगा । जिसका फल यह होगा कि जब एक वस्तु दृष्ट होगी तो वह अकेली ही सदा दृष्ट होती रहेगी । अन्य वस्तु के दृष्ट होने का अवसर ही न हो सकेगा । और जब बुद्धि द्वारा इन्द्रिय और विषय का एव विषय और पुरुष का सम्बन्ध माना जायगा तब ये आपत्तियां न होगी । क्योंकि बुद्धि का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध और इन्द्रिय का विषय के साथ एव विषय का चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने पर विषय का दर्शन मान्य होगा । अतः इन्द्रिय और विषय तथा इन्द्रिय द्वारा विषय और पुरुष का सम्बन्ध बुद्धि के अधीन होगा । इसलिये बुद्धि के व्यापार से व्यासङ्ग की उत्पत्ति हो सकेगी और उसी का सपर्क न पाने के कारण इन्द्रिय का व्यापार न हो सकने से सुषुप्ति हो सकेगी और उस समय उसी के व्यापार से श्वास-प्रश्वास आदि क्रियाएं भी हो सकेगी । इसलिए विषयो की दृष्टता और अदृष्टता तथा सुषुप्ति एव सुषुप्ति के समय श्वासप्रश्वासादि और पुरुष के मोक्ष की उपपत्ति के लिये बुद्धि=महत् तत्त्व को मानना अनिवार्य है ।

### [ बुद्धिगत धर्मों का निरूपण ]

इस बुद्धि मे आठ धर्म रहते हैं । जैसे ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, वैराग्य-अवैराग्य, धर्म-अधर्म । इनके अतिरिक्त बुद्धि मे सुख-दु.ख इच्छा, द्वेष और प्रयत्न भी होते है । भावना पदार्थ साङ्ख्य दर्शनो के विद्वानो द्वारा मान्य नहीं है । अत. बुद्धि महत्तत्त्व मे भावना का अस्तित्व नहीं माना जा सकता । साङ्ख्य मत मे अनुभव ही सूक्ष्मरूप से स्मृति पर्यन्त रहता है । अतः सूक्ष्मावस्थापन्न अनुभव से अतिरिक्त भावना=सस्कार मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती । महत्तत्त्व का इन्द्रियादि द्वारा विषयो के साथ सम्बन्ध होने पर उसका विषयाकार परिणाम होता है जिसे ज्ञान तथा बुद्धि की वृत्ति कहा जाता है । इस ज्ञान के द्वारा ही विषय पुरुष से सम्बद्ध होकर पुरुष के स्वरूप को आवृत करता है । विषयो द्वारा इस प्रकार होनेवाला पुरुष का आवरण ही उसका बन्धन है । एव महत्तत्त्व का नाश होने पर अर्थात् महत्तत्त्व का मूलप्रकृति मे तिरोधान होने पर बुद्धि के विषयाकार परि-णामरूप ज्ञान की निवृत्ति होने से पुरुष के साथ विषयो का सम्बन्ध बन्द हो जाता है । इस प्रकार विषयो से पुरुष के स्वरूप का तिरोधान बन्द हो जाने से पुरुष का मोक्ष सम्पन्न होता है ।

परि इन्द्रियाणाम् , विकल्पस्तु मानसः, अभिमानोऽहङ्कारस्य कृत्यध्यवसाये बुद्धेः, सा हि बुद्धिरंशत्रयवती, पुरुषोपरागः, विषयोपरागः, व्यापारावेशश्च इत्यंशाः । भवति हि 'ममेदं कर्तव्यम्' इति बुद्धेरध्यवसायः । तत्र 'मम' इति पुरुषोपरागः दर्पणस्येव मुखोपरागः, भेदाऽग्रहादतात्त्विकः । 'इदम्' इति विषयोपरागः, इन्द्रियप्रणालीकया परिणतिभेदो दर्पणस्येव मुखनिश्वासहतस्य मलिनिमोपरागस्तात्त्विकः । तदुभयोपपन्नो व्यापारावेशोऽपि । तत्र विषयोपरागलक्षणज्ञाने पुरुषोपरागस्याऽतात्त्विकसंबन्धो दर्पणप्रतिबिम्बितस्येव मुखस्य तन्मलिनिम्नेति ।

[ पुरुष और बुद्धि का तात्त्विक भेद ]

बुद्धि और पुरुष मे अत्यन्त भेद है । किन्तु उसका अज्ञान अनादिकाल से चला आ रहा है और उसी कारण बुद्धि को 'चेतनोऽहं करोमि मैं चेतन करता हूँ' इस प्रकार का अध्यवसाय होता है । सच बात यह है कि इस अध्यवसाय की उपपत्ति के लिये ही स्वाभाविक चैतन्यरूप पुरुष का अस्तित्व मानना आवश्यक होता है । यदि उसे न माना जायेगा तो उक्त अध्यवसाय के रूप मे बुद्धि मे चैतन्य का अभिमान न हो सकेगा क्योकि बुद्धि अचेतन प्रकृति से उद्भूत होने के कारण स्वय अचेतन होती है । उक्त अध्यवसाय तीन व्यापारो से सम्पन्न होता है—इन्द्रिय व्यापार, मनोव्यापार और अहङ्कार व्यापार । इन्द्रिय व्यापार का नाम है आलोचन और मनोव्यापार का नाम है विकल्प एव अहकार व्यापार का नाम है अभिमान । आशय यह है कि इन्द्रिय से वस्तु का आलोचन होता है । और मन से उसका विकल्पन यानी विशिष्टबोध एव अहकार से उसके कर्तृत्व का अभिमान होता है । और इन तीनों के सम्पन्न होने पर बुद्धि मे 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रकार कृति का अध्यवसाय उत्पन्न होता है ।

( पुरुष-विषय व्यापार का बुद्धि सम्बन्ध )

बुद्धि में तीन अश होते हैं । जिन्हें पुरुषोपराग, विषयोपराग और व्यापारावेश कहा जाता है । पुरुषोपराग का अर्थ है पुरुषसम्बन्ध, विषयोपराग का अर्थ है विषयसम्बन्ध एव व्यापारावेश का अर्थ है व्यापार सम्बन्ध । जैसे 'ममेदं कर्तव्यम्=यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकार का अध्यवसाय बुद्धि को होता है । इस अध्यवसाय से बुद्धि के उक्त तीनो अशो का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है । जैसे 'मम' से पुरुषोपराग सूचित होता है । यह उपराग बुद्धि और पुरुष मे भेदज्ञान न होने से ठीक उसी प्रकार मिथ्या होता है जैसे दर्पण मे मुख का प्रतिबिम्ब पडने के समय दर्पण के साथ मुख का सम्बन्ध मिथ्या होता है । 'इदं' से बुद्धि के साथ विषयोपराग सूचित होता है । बुद्धि के साथ विषय का यह सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा विषयाकार बुद्धि का परिणाम रूप है यह ठीक उसी प्रकार सत्य होता है जैसे दर्पण पर मुख के नि.श्वास का आघात होने पर उसके साथ मलिनता का सम्बन्ध । यह सर्व विदित है कि दर्पण मे प्रतिबिम्बित मुख का नि श्वास जब दर्पण पर पडता है तो दर्पण वास्तवरूप मे मलिन हो जाता है । बुद्धि के साथ पुरुष और विषय का उपराग होने पर उस मे व्यापारावेश अर्थात् कृति का सम्बन्ध भी सम्पन्न हो जाता है । अभी यह कहा गया है, कि विषयोपराग विषयाकार बुद्धि का परिणाम रूप है जिसे ज्ञान कहा जाता है । बुद्धि के साथ उसका सम्बन्ध सत्य है । बुद्धि का पुरुष के साथ भेदज्ञान न होने से बुद्धिगत इस ज्ञानात्मक विषयोपराग का पुरुष के साथ भी सम्बन्ध होता है किन्तु यह सम्बन्ध सत्य न होकर यह ठीक उसी प्रकार मिथ्या होता है जैसे मुख के नि.श्वास से दर्पण मे उत्पन्न मलिनता का दर्पण मे प्रतिबिम्बित मुख के साथ सम्बन्ध मिथ्या होता है ।

ततो महत्तत्त्वादहङ्कारोत्पत्तिः । भवति हि स्वप्नावस्थायां 'व्याघ्रोऽहम्, वराहोऽहम्' इत्यभिमानः, न तु 'नरोऽहम्' इत्यभिमानः । अस्ति च तत्र नरत्वं संनिहितमिन्द्रिय मनः-संबन्धश्च । अतो नियतविषयाभिमानव्यापारकाऽहङ्कारसिद्धिः ।

ततः पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि च । पञ्च तन्मात्राणि शब्द रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः सूक्ष्मा उदात्तादिविशेषरहिताः । एकादशेन्द्रियाणि च—चक्षुः, श्रोत्रम् , घ्राणम् , रसनम् , त्वगिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि; वाक्-पाणि पाद पायूपस्थाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति । पञ्च-

---

[स्वप्न मे "मै वाघ हूं" इस प्रतीति का उपपादक अहंकार]

महत् तत्त्व का 'चेतनोऽह करोमि' एव 'ममेद कर्तव्य' इन अध्यवसायो द्वारा परिचय दिया गया है। और प्रकृति से उस की उत्पत्ति का भी युक्तिपूर्वक समर्थन किया गया है । अभी यह बताना है कि महत्तत्व से अहङ्कारनामक तीसरे तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इस अहङ्कार का भी अस्तित्व मानना अत्यन्त आवश्यक है क्योकि स्वप्न की अवस्था मे मनुष्य को यदा कदा इस प्रकार का अभिमान होता है 'अह व्याघ्र' अह वराह' न तु नर ' मै व्याघ्र हूँ, मै शूकर हूँ मनुष्य नहीं हूँ' । इस अनुमान के समय नरत्व सन्निहित रहता है और इन्द्रिय-मन का सम्बन्ध भी सन्निहित रहता है । किन्तु व्याघ्रत्व या वराहत्व असन्निहित रहता है और उस के साथ इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध भी नहीं रहता फिर भी उस का अभिमान होता है इसकी उपपत्ति इन्द्रिय और मन के द्वारा नहीं हो सकती, क्योकि व्याघ्रत्व एव वराहत्व के असनिहित होने से उस के साथ इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध ही नहीं रहता फिर भी उस का अभिमान होता है। इस की उपपत्ति इन्द्रिय और मन के द्वारा नहीं हो सकती, क्योकि व्याघ्रत्व एव वराहत्व के असंनिहित होने से उस के साथ इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध ही नहीं रहता। और यह नियम है कि 'इन्द्रिय और मन सम्बद्धवस्तु का ही ग्रहण कराने मे समर्थ होते हैं।' अतः इस अभिमान को उपपन्न करने के लिये अहङ्कार का अस्तित्व मानने पर अभिमान की उत्पत्ति सुकर हो जाती हैं क्योकि जाग्रतकाल मे मनुष्य को व्याघ्रत्व वराहत्वादि का अनुभव होता है वह सूक्ष्मावस्था मे अहङ्कार मे स्थित हो जाता है । स्वप्नावस्था द्वारा उस सूक्ष्मरूप से स्थित अनुभव का उद्बोधन होने से व्याघ्रत्व वराहत्व के उक्त अभिमान का उदय होता है । जाग्रत-कालिन उक्त अनुभव का बुद्धि मे सूक्ष्मावस्थान मान कर स्वप्नावस्था मे उस का उद्बोधन होकर बुद्धि मे ही उक्त अभिमान रूप व्यापार का उदय नहीं माना जा सकता क्योकि बुद्धि इन्द्रिय आदि द्वारा विषयो से सम्बद्ध होकर ही ज्ञानात्मक परिणाम को उत्पन्न करती हैं किन्तु अहङ्कार को अपने उक्त अभिमानात्मक व्यापार को उत्पन्न करने के लिये इन्द्रिय एव विषयादि की अपेक्षा नहीं होती। अतः स्वप्नावस्था मे अहङ्कार द्वारा ही उक्त अभिमान की उपपत्ति हो सकती है। अतः उक्त अभिमान के निर्वाहार्थ अहङ्कार का अस्तित्व मानना अनिवार्य है।

इस अहङ्कारनामक तीसरे तत्त्व से पञ्च तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रिय इन सोलह तत्वो की उत्पत्ति होती है। तन्मात्रा का अर्थ 'तदेव इति तन्मात्र' इस व्युत्पत्ति से इस प्रकार की वस्तु है जिस का एक ही स्वरूप होता है । जिस मे अवान्तर धर्मों का नहीं होता जैसे सूक्ष्म शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श । सूक्ष्मशब्द मे उदात्त-अनुदात्तादि का भेद वह शुद्धशब्द मात्र स्वरूप होने से शब्द-तन्मात्र कहा जाता है । सूक्ष्म रूप भी नीलत्व से शून्य होने के कारण

तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते। तथाहि–शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्द-स्पर्शगुणः, शब्द-स्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात्तेजः शब्द-स्पर्शरूपगुणं, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्द-स्पर्श रूप-रसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्द-स्पर्शरूप-रस-गन्धगुणा पृथिवीति। तदुक्तमीश्वरकृष्णेन–

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ [सां० का० २२]॥
मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ [सां. का. ३] इति।

जाता है। सूक्ष्म रस मधुरता कटुता अम्लता आदि भेदों से शून्य होने के कारण रसतन्मात्र कहा जाता है। सूक्ष्म गन्ध सुरभित्वाऽसुरभित्व भेदों से रहित होने के कारण गन्धतन्मात्र कहा जाता है एवं सूक्ष्म स्पर्श शीतत्व उष्णत्वादि भेदों से रहित होने के कारण स्पर्शतन्मात्र कहा जाता है।

अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इन के तीन वर्ग हैं। [1]ज्ञानेन्द्रिय, [2]कर्मेन्द्रिय और [3]उभयेन्द्रिय।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और त्वक् ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु (मलेन्द्रिय) उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। एवं मन उभयेन्द्रिय है, क्योंकि ज्ञान और कर्म दोनों की उत्पत्ति में इस की आवश्यकता होती है। पंच तन्मात्रों से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है–जैसे शब्द तन्मात्र से शब्दगुणवाले आकाश की, एवं शब्दतन्मात्र से सहित स्पर्शतन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुणवाले वायु की, शब्दतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्र सहित रूपतन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूपगुण वाले तेज की, शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुणवाले जल की तथा शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्र से सहित गन्धतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध ये पांच गुणवाली पृथ्वी की। जैसा कि ईश्वरकृष्णने अपनी 'प्रकृते महान्' एवं 'मूलप्रकृति०' आदि कारिकाओं में कहा है, कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार है–

प्रकृति से महत् की और महत् से अहङ्कार की, अहंकार से पञ्चतन्मात्र एवं ग्यारह इन्द्रिय इन षोडश की, इन षोडश में पांच तन्मात्रों से आकाश आदि पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इन चौबीस में प्रकृति को मूल प्रकृति कहा जाता है। यह किसी की विकृति नहीं होती अर्थात् उस की किसी से उत्पत्ति नहीं होती। महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों हैं, अर्थात् ये मूलप्रकृति के कार्य होते हैं और इन में महत्तत्त्व अहंकार का, और अहकार पंचतन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियों का, और पञ्च तन्मात्र पञ्च महाभूतों का कारण होता है। पंच महाभूत और ग्यारह इन्द्रिया ये सोलह कार्य ही होते हैं। ये किसी तत्त्वान्तर का कारण नहीं होते। इन चौबीस तत्त्वों से भिन्न एक पुरुषतत्त्व है जिसे आत्मा कहा जाता है, जो प्रकृति और विकृति दोनों से भिन्न होता है। अर्थात् वह न किसी का कारण होता है, और न किसी का कार्य होता है। इस प्रकार इन पच्चीश तत्त्वों को चार वर्ग में विभक्त किया जा सकता है। [1]अविकृति=केवल कारणमात्र [2]प्रकृति विकृति-कारण कार्य उभयात्मक, [3]विकृतिमात्र-केवल कार्यरूप और [4]प्रकृतिविकृतिभिन्न यानी कारणकार्यभिन्न।

पूर्वं षोडशकपदेन पञ्चतन्मात्रै-कादशेन्द्रियग्रहणम् , अग्रे तु पञ्चमहाभूतेन्द्रियग्रहणमिति विशेषः ॥१८॥

इममेव क्रममाह—

**मूलम्–प्रधानान्महतो भावोऽहंकारस्य ततोऽपि च ।**
**अक्षतन्मात्रवर्गस्य तन्मात्राद् भूतसंहतिः ॥१९॥**

**प्रधानात्**=प्रकृतितत्त्वात् , **महतः**=बुद्धितत्त्वस्य, **भावः**=उत्पत्तिः अभिव्यक्तिर्वा, ततोऽपि च, अहङ्कारस्य 'भाव' इत्युत्तरत्राप्यनुपज्यते। 'ततोऽपि' इत्युत्तरत्राऽऽवर्त्यते, **ततोऽपि** अहङ्कारादपि, **अक्ष-तन्मात्रवर्गस्य**=एकादशेन्द्रिय-पञ्चमहाभूतानां (१ तन्मात्राणां) भावः, **तन्मात्रात्**=जात्यपेक्षयैकवचनात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः **भूतसंहतिः**=पञ्चमहाभूतानां भावः ॥१९॥

स्थूलकार्यमधिकृत्याह—

**मूलम्–घटाद्यपि पृथिव्यादिपरिणामसमुद्भवम् ।**
**नात्मव्यापारजं किञ्चित्तेषां लोकेऽपि विद्यते ॥२०॥**

**घटाद्यपि**=स्थूलकार्यजातम् , पृथिव्यादीनां मृदात्मिकानां परिणामाद्=विलक्षणसयोगादिपरिणामात् समुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तत् , परिणामान्तराभ्युपगमात् । विशेषमाह–**तेषां**=

---

प्रथमवर्ग मे केवल मूल प्रकृति का समावेश होता है । द्वितीयवर्ग मे महत्तत्त्व, अहंकार एव पचतन्मात्र का समावेश होता है । तृतीय वर्ग मे पचमहाभूत एव ग्यारह इन्द्रियो का समावेश होता है । चतुर्थ वर्ग मे केवल पुरुष का समावेश होता है ।

'प्रकृतेर्महान्' इस कारिका मे आये षोडशक शब्द से पञ्चतन्मात्र और एकादश इन्द्रिय का ग्रहण एव 'मूलप्रकृति०' इस कारिका मे आये षोडशक शब्द से पञ्चमहाभूत और ग्यारह इन्द्रिय का ग्रहण अभीष्ट है यह ध्यान मे रहना चाहिये ।।१८।।

[प्रधान-महत्-अहकार-इन्द्रियतन्मात्र-पञ्चभूत का क्रम]

कारिका १९ मे महत् आदि तेईस तत्त्वो को उत्पत्ति का वही क्रम स्फुट किया गया है जिसका सकेत ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'प्रकृतेर्महान्०' इस कारिका मे किया है । इस कारिका का अर्थ अति सुगम है जैसे-प्रधान प्रकृतितत्त्व से महत्-बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति होती है, और महत् तत्त्व से अहकार की, अहकार से अक्ष=ग्यारह इन्द्रिय और पचतन्मात्र को एव पचतन्मात्र से पचमहाभूतो को उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है । कारिका मे 'तन्मात्र' शब्द से एकवचन विभक्ति का प्रयोग हुआ है । वह तन्मात्र सख्या की दृष्टि से उचित न होने पर भी, तन्मात्रत्व जाति की दृष्टि से उचित है क्योकि पाँचो तन्मात्रो मे तन्मात्रत्व नाम को एक जाति-एक अनुगत धर्म रहता है ।।१९।।

[ सांख्यमत मे आत्मा व्यापारशून्य है ]

कारिका २० मे स्थूल कार्य की उत्पत्ति और आत्मा के अकारणत्व का उल्लेख है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

सांख्यानाम्, लोकेऽपि=जगत्यपि, आत्मव्यापारजं किञ्चित् किमपि कार्यं नास्ति, आत्मव्यापारस्यैवाऽभावात् सुतरां तज्जन्यत्वाभावः । इति सांख्याशयवार्ता ॥२०॥

अत्र प्रतिक्षेपवार्तामाह—

**मूलम्–अन्ये तु ब्रुवते ह्येतत्प्रक्रियामात्रवर्णनम् ।**
**अविचार्यैव तद्युक्त्या, श्रद्धया गम्यते परम् ॥२१॥**

अन्ये तु=असत्कार्यवादिनः ब्रुवते, हि=यतः, एतत्=अनुपदमभिहितम्, प्रक्रियामात्रवर्णनम्=यदृच्छाक्लृप्तपरिभाषामात्रोपदर्शनम्, न तात्त्विकमेव । तत्=तस्माद् हेतोः, युक्त्याऽविचार्यैव, परं=केवलम्, श्रद्धया=वृद्धोक्तभक्त्या, गम्यते=उपादीयते ॥२१॥

कुतः ? इत्याह—

**मूलम्–युक्त्या तु बाध्यते यस्मात्प्रधानं नित्यमिष्यते ।**
**तथात्वाऽप्रच्युतौ चास्य महदादि कथं भवेत् ? ॥२२॥**

---

घट आदि जितने भी स्थूल कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वे सब पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों के मिट्टी आदि परिणामो के विलक्षणसंयोगादिरूप परिणाम से समुद्भूत होते हैं । उन के लिए किसी अन्यतत्त्व की आवश्यकता नहीं होती । यह स्वीकार किया गया है कि महाभूतो के ही एक परिणाम से दूसरे परिणाम की उत्पत्ति होती रहती है, पृथ्वी आदि परिणाम भी तत्त्वरूप नहीं होते, क्योंकि वे किसी कार्य के उपादान नहीं होते, जो किसी कार्य का उपादान होता है वही तत्त्व कहा जाता है । पृथ्वी आदि के साक्षात् या परम्परया जितने परिणाम होते हैं उन सबो का उपादान पृथ्वी आदि तत्त्व ही होता है । उन परिणामो मे परस्पर मे उपादान–उपादेय भाव न हो कर निमित्त–नैमित्तिक भाव ही होता है । जैसे मृत्तिका घट का उपादान न होकर निमित्त है, उपादान तो दोनो का पृथ्वीतत्त्व ही है । सांख्यमत मे पुरे जगत मे कहीं भी आत्मा के व्यापार से किसी कार्य की उत्पत्ति नही होती है, क्योकि आत्मा मे कोई व्यापार ही नहीं होता है और जब उस में कोई व्यापार ही नहीं होता तो उस का किसी वस्तु का जनक होना किसी भी प्रकार संभव नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी कार्य का जनन करने के लिए कारण को कुछ व्यापार करना पडता है अत जो किसी प्रकार का व्यापार नहीं कर सकता वह किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता । इसीलिए सांख्य सिद्धात में पुरुष को अकारण माना गया है-यह सांख्यमत का प्रतिपादन हुआ ॥२०॥

[ युक्ति से सांख्यमत को आलोचना–उत्तरपक्ष]

२१ वीं कारिका मे पूर्ववर्णित सांख्यमत के खण्डन का उपक्रम किया गया है ।

कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

असत् कार्यवादी विद्वानो का यह कहना है कि सांख्यशास्त्र के अनुसार जगत् और पुरुष के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है वह स्वेच्छा से स्वीकार की गई परिभाषा का प्रदर्शनमात्र है, उस मे कोई प्रामाणिकता नहीं है इस लिये युक्तिपूर्वक विचार न कर केवल उपदेश के प्रति शुद्धश्रद्धामात्र से ही वह उपादेय हो सकता है ॥२१॥

युक्त्या तु बाध्यते, यस्मात् प्रधानं नित्यम्=अप्रच्युताऽनुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावम् इष्यते=सांख्यैरङ्गीक्रियते अस्य-प्रधानस्य, तथात्वाऽप्रच्युतौ च=प्रधानत्वाऽप्रच्युतौ च, महदादि कथं भवेत् ॐ? पूर्वस्वभावपरित्यागाऽपूर्वस्वभावोपादानाभ्यामेव हेतु-हेतुमद्भावनियमात्, अङ्गदादिपरिणामनाशेनैव कुण्डलादिपरिणामोत्पाददर्शनादिति भावः ॥२२॥

२२ वीं कारिका मे 'साख्यवर्णित मत कोरी श्रद्धामात्र से ही क्यो उपादेय है' इस को स्पष्ट किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

युक्तिपूर्वक विचार करने पर साख्य का मत प्रमाण से बाधित हो जाता है क्योकि साख्य शास्त्र के विद्वानो ने प्रधान-प्रकृति को नित्य माना है और नित्य उसी वस्तु को कहा जाता है जो सदा एक रूप मे स्थिर रहे, जिस का कभी भी न किसी रूप मे स्खलन हो और न किसी रूप मे उत्पादन हो जैसे साख्यसम्मत पुरुष। अत. प्रधान भी इसी रूप मे नित्य होगा। फलत. प्रधानत्व रूप से उस का स्खलन न होने के कारण उस से महत् आदि तत्त्वो की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योकि कारण होने के लिए पूर्वस्वरूप का त्याग और कार्य होने के लिए अपूर्व स्वरूप का ग्रहण आवश्यक होता है, जैसे अङ्गद बाजूवद आदि के रूप मे स्थित सुवर्ण को कुण्डलादि का कारण होने के लिए अङ्गदादि स्वरूप का परित्याग और कुण्डलादि स्वरूप का ग्रहण करना पडता है। अतः प्रधान को भी महत्

ॐएक आधुनिक विद्वान इस पर लिखता है—"हरिभद्र की आपत्ति किसी गलतफहमी पर आधारित प्रतीत होती है, क्योंकि वस्तुत साख्य दार्शनिक की 'प्रकृति' नित्य होते हुए भी रूपान्तरणशील ठीक उसी प्रकार है जैसे कि जैन-दर्शन की मान्यतानुसार विश्व की सभी जड-चेतन वस्तुएँ नित्य होते हुए भी रूपान्तरणशील है।—" वस्तुत आ. श्री हरिभद्रसूरि की कोई गलतफहमी नहीं है चूँकि उन को यहाँ नित्यता का नहीं एकान्तनित्यता का खडन अभिप्रेत है जो २४ वीं कारिका में स्पष्ट है। इतनी सरल बात को न समझ पाना यही तो गलतफहमी है।

इसी प्रकार इस विद्वान ने शास्त्रवार्त्तासमुच्चय के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना में अपनी बेनमून विद्वत्ता का जो प्रदर्शन किया है उस का एक यह भी उदाहरण है—वह लिखता है—"हरिभद्र ने साख्य दार्शनिक को छूट दी है कि यदि वह अपनी प्रकृति का वर्णन ठीक उसी प्रकार करे जैसे कि जैन दर्शन मे कर्मप्रकृति का (अर्थात् 'कर्म' नाम वाले भौतिक तत्त्व का) किया गया है तो उसका प्रस्तुत मत निर्दोष बन जायेगा, . लेकिन यह एक विचारणीय बात है कि सांख्य दार्शनिक की 'प्रकृति' एक है तथा उसके रूपान्तरण की परिधि समूचा जड जगत् है, जब कि जैन दर्शन की 'कर्म प्रकृतिया' अनेक है। तथा उनके रूपान्तरण की परिधि जड जगत का एक भाग मात्र है।"

सज्जनों को सोचना चाहिये कि-आ. श्री हरिभद्र सूरि का अभिप्राय यह है कि 'साख्य' प्रकृति को सारे जगत् का उपादान कारण मानता है उस के स्थान मे निमित्त कारण मान लिया जाय तो जैन मत यानी वास्तविकता के साथ उसका भी मेल हो जाय। इस ऋजु अभिप्राय न समझ कर इस विद्वान ने जो अट सट लिख दिया है वह केवल शब्दाडंबर के सिवा और क्या है? इस विद्वान् ने तो ऐसे अनेक असमञ्जस विधान उस की प्रस्तावना में कर डाले हैं। वास्तव मे तो अल्पज्ञ होने पर भी घमंडी और, महामहीम पूर्वाचार्यो के गौरव को गिराने की धृष्टता करना ही जिनका जीवनव्रत है उन आधुनिक पडितों से भारत के उज्ज्वल भावि की क्या आशा करना।

अथ "नाऽस्माभिरपूर्वस्वभावोत्पत्त्या हेतु हेतुमद्भावोऽभ्युपगम्यते यतो रूपभेदादनित्यता प्रसज्येत, किन्त्वपरित्यक्तसर्पभावस्य सर्पस्य कुण्डलावस्थावदपरित्यक्तप्रधानभावस्यैव प्रधानस्य महदादिपरिणामाभ्युपगम इति को दोषः, युवत्व-वृद्धत्वादिपरिणामयोरप्यवस्थित एव धर्मिणि पूर्वोत्तरभावनियमेनाऽवस्थासांकर्यात् ?" इत्यभिप्रायमुट्टंक्य निराकुरुते—

मूलम्-तस्यैव तत्स्वभावत्वादितिचेत्किं न सर्वदा।
अत एवेति चेत्तस्य तथात्वे ननु तत्कृत ? ॥२३॥

'तस्यैव=प्रधानस्यैव, एवकारेण स्वभावान्तरव्यवच्छेदः, तत्स्वभावत्वात्=महदादिजननस्वभावत्वात्, तथात्वाऽप्रच्युतावपि महदाद्युत्पत्तिरित्युपस्कारः' इति चेत् ? तदा सर्वदा किं न भवति महदादिकम् ? प्रकृतिसंनिधानस्य सर्वदा सत्त्वादेकहेलयैव जगत् स्यात्, समर्थस्य कालक्षेपाऽयोगादित्याशयः। परः प्राह—अत एव=कदाचिज्जननस्वभावत्वादेव न सर्वदोत्पत्ति-

आदि का कारण होने के लिए अपने पूर्वस्वरूप का त्याग और नये स्वरूप का ग्रहण करना होगा और यह होने पर उस की नित्यता समाप्त हो जायगी। अतः नित्यप्रकृति से अनित्य महत् आदि की उत्पत्ति युक्तिसंगत न हो कर उपदेष्टा के प्रति अटूट श्रद्धाभाव होने के कारण ही मानी जा सकती है।।२२।।

(प्रकृति की नित्यता के बचाव मे आशंका)

२३ वीं कारिका सांख्यों के एक विशेष अभिप्राय के निराकरणार्थ प्रस्तुत हुई है। वह अभिप्राय यह है कि-कार्यकारणभाव के लिए नये रूप की उत्पत्ति और पूर्वरूप का परित्याग आवश्यक नहीं है जिस से रूपभेद से प्रकृति मे अनित्यता की आपत्ति हो। किन्तु सर्प जैसे अपने सर्पभाव का परित्याग विना किये ही कुण्डलावस्था का जनक हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृति अपनी प्रधान अवस्था का परित्याग विना किये भी महत् आदि का कारण हो सकती है ऐसा मानने मे कोई दोष नहीं हो सकता। इस बात को अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है-व्यक्ति मे यौवन, वार्धक्य इत्यादि परिणाम व्यक्तिरूप धर्मी की स्थिरता का घात न करके ही उस मे क्रम से उत्पन्न होते हैं और उन मे पूर्वोत्तरभाव का नियम होने के कारण सांकर्य नहीं होता। उसी प्रकार प्रधान मे भी उस की नित्यता को बाधित किये विना ही महत् आदि असंकीर्ण परिणामो का उदय यदि माना जाय, तो कोई हानि नहीं हो सकती।

इस अभिप्राय को जिस रूप मे प्रस्तुत किया गया है और उस के निराकरणार्थ जो बात कही गयी है वह कारिका की व्याख्या मे स्पष्ट है व्याख्या इस प्रकार है-

"प्रधान स्वयं ही ( -अपने पूर्व स्वभाव का परित्याग बिना किये ही ) महत् आदि के उत्पादक स्वभाव से सपन्न है, अतः प्रधान अपने सहज स्वरूप मे ज्यो का त्यो स्थित रहते हुए भी उस से महत् आदि की उत्पत्ति हो सकती है।" सांख्यो की ओर से महत् आदि तत्त्वों और कार्य-कारण भाव के विषय मे ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि महत्

रित्याशयः। वाद्याह-इति चेत्, 'ननु' इत्याक्षेपे, तस्य=प्रधानस्य तथात्वे=नियतस्वरूपाऽविकृतत्वे तत्=कदाचिज्जननस्वभावत्वम् कुतः? एकरूपा हि प्रकृतिः सदैव महदादि जनयेत्, कदापि वा न जनयेत्। 'तत्तत्कालावच्छिन्नजनना-ऽजननोभयनिरूपितैकस्वभावत्वादयमदोष' इति चेत्? जनना-ऽजननयोस्तत्कालावच्छिन्नत्वे तत्स्वभावत्वम्, तत्स्वभावत्वे च तयोस्तत्त्वमित्यन्योन्याश्रयः। स्वस्वभावादेव तयोस्तत्त्वे च विलीनं प्रकृत्यादिप्रक्रिययेति भावः ॥२३॥

आदि को उत्पन्न करने के लिए यदि प्रधान मे कोई नई घटना आवश्यक न होगी तो उस से नियत समय मे ही महत् आदि की उत्पत्ति न होकर सर्वदा उस की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। अतः प्रकृति से एक साथ ही समुचे जगत के जन्म की प्रसक्ति होगी क्योकि प्रधान मे यदि जगत् को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है, तो जगत् की उत्पत्ति का विलम्ब नहीं हो सकता, क्योकि जो जिस कार्य को उत्पन्न करने मे समर्थ होता है वह उस की उपस्थिति होने पर कार्य के उत्पादन मे विलम्ब नहीं करता जैसे न्यायमत मे कर्म विभाग को उत्पन्न करने मे समर्थ होता है तो कर्म से विभाग की उत्पत्ति मे विलब नहीं होता। कर्म के दूसरे क्षण मे ही विभाग का जन्म हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि-'प्रधान मे महत् आदि को नियतकाल मे ही उत्पन्न करने का सामर्थ्य है अतः सर्वदा उस की उत्पत्ति का प्रसग नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योकि प्रधान यदि अपने सहज स्वरूप मे कुछ भी विकृत हुए विना ही महत् आदि को उत्पन्न करेगा तो नियतकाल मे भी वह महत् आदि को उत्पन्न न कर सकेगा। कहने का आशय यह है कि प्रकृति यदि सर्वदा एक रूप ही रहेगी उसमे किंचित् भी कोई नई बात नहीं होगी वह अपने सहज सदातन रूप मे ही रह कर महत् आदि का जनक मानी जायगी तो उस से या तो सर्वदा महत् आदि की उत्पत्ति होगी अथवा कभी भी नहीं होगी 'क्योकि कभी उत्पन्न करना और कभी उत्पन्न न करना' यह बात किसी आगन्तुक निमित्त की अपेक्षा के विना नहीं बन सकती।

### [ जनन-अजनन उभयस्वभाव में अन्योन्याश्रय ]

यदि यह कहा जाय- प्रकृति का यह सहज स्वभाव है कि किसी काल मे महत् आदि का जनन करें और कालान्तर मे उस का जनन न करे। अतः प्रधान से महत् आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उक्त आपत्ति नहीं हो सकती हैं' तो यह ठीक नहीं है। क्योकि महत् आदि के जनन और अजनन में तत्तत्कालावच्छिन्नत्व सिद्ध हो जाने पर ही प्रकृति मे तत्तत्कालावच्छेदेन महत् का जनन और अजनन करने के स्वभाव की कल्पना हो सकेगी और इस प्रकार का स्वभाव सिद्ध हो जाने पर ही उसके बल से महत् आदि के जनन और अजनन मे तत्तत्कालावच्छिन्नत्व सिद्ध हो सकता है इस मे अन्योन्याश्रय है। इस अन्योन्याश्रय दोष के कारण यह कल्पना संभव नहीं हो सकती। यदि इस अन्योन्याश्रय का परिहार करने के लिए महत् आदि के जनन और अजनन मे तत्तत्कालावच्छिन्नत्व को भी स्वाभाविक मान लिया जायगा तो प्रकृति से महत् और महत् से अहंकारादि की उत्पत्ति की जो प्रक्रिया सांख्य मे वर्णित है वह अनावश्यक होने से समाप्त हो जायगी, क्योकि सभी कार्य अपने स्वभाव से ही तत्तत्काल में सपन्न हो जायेंगे ॥२३॥

उपचयमाह—

मूलम्-नानुपादानमन्यस्य भावेऽन्यज्जातुचिद्भवेत् ।
तदुपादानतायां च न तस्यैकान्तनित्यता ॥२४॥

अनुपादान=तथाभाविकारणविकलम्, अन्यस्य=सर्वथा तथाभावित्र्यक्तिरिक्तस्य प्रधानस्य, भावे=सन्निधाने, अन्यत=एकान्ताऽविद्यमानं महदादि; जातुचित्=कदाचित, न भवेत्, सर्वथाऽसतः सत्ताऽयोगात् । तदुपादानताया च महदादेरभ्युपगम्यमानायां न तस्य=प्रधानस्य, एकान्तनित्यता, अनित्यमहदाद्यभिन्नत्वात । 'महदाद्यपि सदासत्त्वाद् नित्यमेवे'ति चेत ? गता तर्हि प्रकृति-विकृत्यादिप्रक्रिया, मुक्तावपि तत्सत्त्वेऽपदर्शनं च । 'महदादेः प्रकृतिपरिणामित्वेन प्रकृत्यभिन्नत्वेऽप्यनित्यत्वादिना भेद एवे'ति चेत् ? तर्हि भेदाऽभेदप्रसङ्ग इति दिग् ॥२४॥

(प्रकृति को महत् का उपादान मानने मे अनित्यता की आपत्ति)

२४ वीं कारिका में पूर्व कारिका में कहे गये अर्थ की ही सपुष्टि की गई है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

महत् आदि कार्यों को यदि उपादानहीन माना जायगा अर्थात यदि उस का कोई ऐसा कारण नहीं माना जायगा जिस मे महत् आदि की उत्पत्ति के पूर्व मे भी महत् आदि का अस्तित्व होता हो, तो कारण मे अविद्यमान ही महत् की उत्पत्ति माननी होगी । फलतः प्रधान का सन्निधान होने पर भी उस मे प्रथमतः अविद्यमान होने के कारण महत् आदि की उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि जो सर्वथा असत् होता है वह कभी सत् नहीं हो सकता है । और यदि प्रधान को महत् आदि कार्यों का उपादान कारण माना जायगा, और कारणरूप मे उस मे महत् आदि का अस्तित्व माना जायगा तो प्रधान की एकान्त नित्यता का भग हो जायगा क्योंकि उपादानकारण और कार्य में अभेद का नियम होने से प्रधानरूप उपादान कारण भी अपने कार्य अनित्य महत् आदि से अभिन्न होने के कारण कार्यात्मना अनित्य हो जायगा ।

यदि कहें कि-'महत् आदि भी सर्वदा सत् होने से नित्य ही होता है'-तो महत् आदि तत्त्व और प्रकृति में कार्य कारण भाव की मान्यता समाप्त हो जायगी । और महत् आदि नित्य होने पर मोक्षकाल में उस का अस्तित्व मानने पर सिद्धान्त की हानि होगी । इसप्रकार सांख्यदर्शन अपदर्शन बन जायगा -'महत् आदि प्रकृति का परिणाम है और परिणाम परिणामी से अभिन्न होते हुए भी अनित्य होता है इसलिए महदादि प्रकृति से अभिन्न होने पर भी अनित्य होने से प्रकृति से भिन्न होगा, अत एव महत् आदि का अपने अभिव्यक्तरूप में सर्वदा सत् न होनेसे न तो उसे प्रकृति का कार्य होने में कोई बाधा होगी और न मोक्ष काल में उस के अस्तित्व का प्रसग होकर सांख्य सिद्धान्त की हानि होगी'—तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर एक ही वस्तु में भेद और अभेद का प्रसग होने से सांख्य को स्याद्वाद वा अनेकान्तवाद के द्वार पर दौवारिक बनना पडेगा ॥२४॥

स्थूलकार्यमधिकृत्याऽप्याह—

मूलम्-घटाद्यपि कुलालादिसापेक्ष दृश्यते भवत् ।
अतो न तत्पृथिव्यादिपरिणामैकहेतुकम् ॥२५॥

घटाद्यपि=स्थूलकार्यजातम्, कुलालादिसापेक्षं भवद् दृश्यते, कुलालादीनां तत्राऽन्वयव्यतिरेकानुविधानदर्शनात् । अतस्तत् पृथिव्यादिपरिणामैकहेतुकं न भवति, नियतान्वयव्यतिरेकौ विना तादृशपरिणामेऽपि हेतुताग्रहाभावात्, तयोश्च कुलालादावविशेषात् । 'कार्यगतयावद्धर्मानुविधायित्वात् हेतोः कुलालादीनां न घटादिहेतुत्वमि'ति चेत् ? तर्हि बुद्धिगता रागादयोऽपि प्रकृतौ स्वीकर्तव्याः, इति सैव बुद्धिः भावाष्टकसम्पन्नत्वात्, न तु प्रकृतिः । 'स्थूलरूपतामपहाय सूक्ष्मरूपतया ते तत्र सन्ती'ति चेत् ? लयाद्यवस्थायां सौक्ष्म्यं बुद्धावपि समानम्, सूक्ष्मतया घटादिगतधर्माणां कुलालादौ कल्पने बाधकाभावश्च ॥२५॥

[घटादि कार्य पृथ्वी आदि के परिणाम मात्र से जन्य नही)

२५ वीं कारिका मे स्थूलकार्यो मे कर्तृसापेक्षता बताते हुए कार्य मे कर्तृनिरपेक्षता के खण्डन का सकेत किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है –

घटादि कार्य कुलालादि कर्त्ता की अपेक्षा से उत्पन्न होता है यह बात देखने मे आती है क्योकि घटादि में कुलालादि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान देखा जाता है । अर्थात् कुलाल आदि के रहने पर घटादि का जन्म होता है और कुलालादि के अभाव मे घटादि का जन्म नही होता है । इसलिये यह कहना उचित नही हो सकता कि 'घटादि कार्य पृथ्वीआदि के परिणाममात्र से ही उत्पन्न होते है, क्यो कि पृथ्वीआदि के परिणाम मे भी अन्वयव्यतिरेक के विना घटादि की कारणता का ज्ञान नहीं होता है किन्तु अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है और जब अन्वय-व्यतिरेक के नाते पृथ्वी आदि के परिणाम को घटादि का कारण माना जाता है तो पृथ्वीआदि के परिणाम के समान ही कुलालादि मे भी अन्वय व्यतिरेक होने के नाते कुलालादि मे भी घटादि की कारणता मानना आवश्यक है । यदि यह कहें कि 'हेतु मे कार्य के सभी धर्मो का सम्बन्ध होना आवश्यक होता है किन्तु कुलालादि मे घटादि के सभी धर्मो का सम्बन्ध नहीं होता । अत कुलालादि घटादि का कारण नही हो सकता' तो यह ठीक नही है क्योकि हेतु मे कार्य के सभी धर्मो के सम्बन्ध का होना आवश्यक नहीं माना जा सकता । यदि ऐसा माना जायगा तो प्रकृति मे बुद्धि के रागादि धर्मो का भी अस्तित्व मानना होगा और उस दशा मे धर्म-अधर्मादि आठ भावो से सपन्न होने के कारण प्रकृति ही बुद्धि बन जायगी ।

यदि यह कहा जाय कि 'धर्म-अधर्मादि आठ भाव अपने स्थूल रूप का परित्याग कर सूक्ष्मरूप से प्रकृति मे रहते है । अत वह बुद्धि नहीं हो सकती । क्योकि स्थूल रूप से भावाष्टकसम्पन्न को ही बुद्धि कहा जाता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योकि ऐसा मानने पर लयादि की अवस्था मे बुद्धि भी बुद्धि न हो सकेगी, क्योकि उस समय उस मे भी भावाष्टक स्थूलरूप से न रह कर सूक्ष्मरूप से ही रहते है। और दूसरी बात यह है कि यदि कारण मे कार्यगत सभी धर्मो का होना आवश्यक हो तब भी कुला-

चेतनेऽचेतनधर्मसंक्रमे परिणामित्वादिबाधकम्, कुलालादिदेहस्तु घटादिकर्तेप्यत एवेत्याशङ्कयाह—

मूलम्— ¹तत्रापि देहः कर्ता चेन्नैवासावात्मनः पृथक्।
पृथगेवेति चेद्भोग आत्मनो युज्यते कथम्? ॥२६॥

'तत्रापि—घटादावपि, देहः कर्ता, स्थूलरूपावच्छिन्नस्य तस्य कुलालादिचेष्टयैवोत्पादात्' इति चेत्? नैव असौ-देहः, आत्मनः पृथक्-भिन्नः सर्वगतत्वात् निष्क्रियत्वाच्च। 'आत्माऽसर्वगत सक्रियदेहात् पृथगेवे'ति चेत्? तर्हि भोगः कथं युज्यते, सर्वथा देहाद् भेदे तस्य मुक्तकल्पत्वात्? क्षीर-नीरन्यायेन देहाऽभिन्नस्यैवाऽऽत्मनो देहोपनीतभोगसंभवादिति भावः ॥२६॥

नास्त्येव तत्त्वत आत्मनो भोग इतीष्टापत्त्या परः स्वाभिप्रायमाह—

मूलम्—देहभोगेन नैवास्य भावतो भोग इष्यते।
प्रतिबिम्बोदयात्किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥२७॥

लादि मे घटादि की कारणता सम्भव हो सकती है। क्योंकि कुलालादि में घटादि के सभी धर्मों को सूक्ष्मरूप से स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं हो सकती ॥२५॥

[ आत्मा क्षीर-नीरन्याय से देहाभिन्न है

२६ वीं कारिका में चेतन में अचेतनधर्म का संक्रमण होने में परिणामित्व का बाध बताते हुए कुलालादि के देह में घटादि के कर्तृत्व की शङ्का का समाधान किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है 'कुलालादि का आत्मा घट का कर्ता नहीं है किन्तु उस का देह कर्ता है। क्योंकि घटादि के स्थूल रूप की रचना कुलालादि की चेष्टा से होती है और चेष्टा आत्मगत न होकर शरीरगत होती है।' किन्तु ऐसा कहने पर भी घटादि के प्रति कुलालादि के आत्मा के कर्तृत्व का परिहार नहीं हो सकता। क्योंकि जब कुलालादि का देह घटादि का कर्ता होगा तो उस की आत्मा भी घटादि का कर्ता होना आवश्यक हो जायगा क्योंकि देह आत्मा से पृथक् नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि 'आत्मा सर्वगत और निष्क्रिय होती है, एवं देह असर्वगत और सक्रिय होती है अतः आत्मा का देह से पार्थक्य अनिवार्य है'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा को देह से सर्वथा भिन्न मानने पर वह आत्मा मुक्तकल्प हो जायगा और संसार दशा में भी उस में भोग न हो सकेगा क्योंकि क्षीरनीर के समान आत्मा देहाभिन्न होने पर ही उस में देह द्वारा भोग का उपपादन हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥२६॥

( बुद्धि पुरुष का प्रतिबिम्ब होने से भोग उपचार )

२७ वीं कारिका मे सांख्य के इस अभिप्राय का उल्लेख किया गया है कि आत्मा मे भोगाभाव का आपादान इष्ट ही है, क्योंकि आत्मा वास्तविक दृष्टि से भोग का आश्रय नहीं होता।

१ 'देहस्तत्रापि कर्त्ता चेत्' यह पाठ उचित हो सकता है किन्तु टीकानुसारेण मूल में 'देह' पद के अनन्तर विसर्ग का प्रश्लेष प्रतीत होता है।

देहेन भोगो देहभोगस्तेन, 'धान्येन धनम्' इतिवदभेदे तृतीया, देहभोगेन=देहद्वारेति वाऽर्थः, नैव, अस्य=आत्मनः, भावतः=तत्त्वतः, इष्यते भोगः, किन्तु प्रतिबिम्बोदयात्। यद्यप्येवमपि सुख-दुःखाद्यन्तःकरणधर्मानुविद्धस्य महत एव स्वतोऽचेतनस्य चेतनोपरागेण 'चेतनोऽहं सुखी'त्याद्यभिमानरूपश्चैतन्यांशेऽतात्त्विको भोगः, न तु पुरुषस्य, तथापि भोक्तृबुद्धिसंनिधानात् तत्र भोक्तृत्वव्यवहारः। तदाह पतञ्जलिः-'शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते' इति। केचित्तु बुद्धौ पुरुषोपरागवत् पुरुषेऽपि बुद्ध्युपरागं वर्णयन्ति, न चैवं विकृतत्वापत्तिः, अतात्त्विकोपरागेण तदयो-

---

कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

कारिका के अन्तर्गत आये देहभोग शब्द की 'देहेन भोग.' इस प्रकार व्युत्पत्ति होती है। इस व्युत्पत्ति मे देह शब्द के उत्तर विद्यमान तृतीयाविभक्ति का अर्थ अभेद हो सकता है जैसे 'धान्येन धनम्' इस वाक्य मे धान्य शब्दोत्तर तृतीया का अभेद अर्थ होता है। अत देहभोग शब्द का अर्थ होता है देहात्मको भोगः। ऐसा अर्थ करने पर भोग शब्द को भुज् धातु से करण अर्थ मे घञ् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न मानना होगा। और ऐसा होने पर देहभोग शब्द का अर्थ होगा भोग का देहात्मक साधन। उक्त व्युत्पत्ति मे भोग शब्द को भावार्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न मानने पर देहशब्दोत्तर तृतीया का 'द्वार' अर्थ करना होगा। और तब देहभोग शब्द का अर्थ होगा-देह द्वारा होनेवाला भोग। देहभोग शब्द के उक्त दोनो अर्थों मे कोई भी अर्थ लेने पर यही तथ्य उपलब्ध होता है कि भोग के देहाभिन्न साधन से अथवा देहद्वारा होनेवाले भोग से आत्मा मे वास्तविक भोग नहीं उपपन्न होता। क्योंकि आत्मा पूर्णरूप से कूटस्थ है। अत विन्ध्यवासी आदि पूर्ववर्ती सांख्यवेत्ता विद्वानो ने यह कहा है कि भोग के वास्तव आश्रयभूत बुद्धितत्त्व मे पुरुष का प्रतिबिम्ब होने से बुद्धिगत भोग का आत्मा मे आभास मात्र होता है। यह ज्ञातव्य है कि प्रतिबिम्ब द्वारा भी आत्मा मे भोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'चेतनोऽह सुखी' इस अभिमान को ही चैतन्यस्वरूप आत्मा मे सुख का अतात्त्विक भोग कहा जा सकता है। किन्तु यह अभिमान भी सुखदुःखादि अन्त.करणधर्मो से अनुविद्ध एव स्वत' अचेतन महत्तत्त्व मे ही चेतनोपरागवश होता है। अत इस से आत्मा भोग का आश्रय सिद्ध नहीं हो सकता। यथार्थ मे भोग का आश्रय तो बुद्धि ही होती है। अत उस के सन्निधान से पुरुष मे भोक्तृत्व का व्यवहार मात्र होता है। जैसा कि पतञ्जलि ने योगसूत्र के भाष्य मे कहा है-'पुरुष नितान्तशुद्ध होता है। वह बुद्धिगत ज्ञान का अनुद्रष्टा मात्र होता है। और अनुद्रष्टा होने के कारण ही ज्ञानात्मक न होने पर भी ज्ञानात्मक जैसा प्रतीत होता है'। पतञ्जलि के इस वचन का तात्पर्य पुरुष मे भोक्तृत्व न होने पर भी भोक्तृत्व व्यवहार के प्रदर्शन मे ही है।

( पुरुष मे बुद्धि के प्रतिबिम्ब से विकृति का प्रसग )

कुछ विद्वान बुद्धि मे पुरुष के उपराग के समान पुरुष मे भी बुद्धि का उपराग बताते हैं। उन का आशय यह है कि जैसे बुद्धि मे पुरुष का प्रतिबिम्ब पडता है उसीप्रकार पुरुष मे भी बुद्धि का प्रतिबिम्ब पडता है। ऐसा माननेपर यह शङ्का नहीं की जा सकती कि-'पुरुष यदि बुद्धि के प्रतिबिम्ब

गात् । तथा चाह वादमहार्णवः-'बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य, न तु विकारोपपत्तिः' इति । 'बुद्धिगतप्रतिबिम्बात्मन्येव बुद्धिगतभोगोपसंक्रमः, बिम्बात्मनि तु न किञ्चित्' इत्यपरे ।

स्वोक्तेऽर्थेऽभियुक्तसम्मतिमाह-यथोक्तं पूर्वसूरिभिः=विन्ध्यवास्यादिभिः ॥२७॥

किमुक्तम् ? इत्याह-

मूलम्-पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सांनिध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥२८॥

पुरुषः=आत्मा, अविकृतात्मैव=अप्रच्युतस्वभाव एव, अचेतनं मनः, सांनिध्यात्=सामीप्याद् हेतोः, स्वनिर्भास=स्वोपरक्तम् करोति । निदर्शनमाह-यथोपाधिः पद्मरागादिः स्फटिकं स्वधर्मसंक्रमेण स्वोपरक्तं करोति । न चैतावता स विकरोति, किन्तु स्फटिक एव विक्रीयते, तथाऽऽत्मापि बुद्ध्युपरागं जनयन् न विकरोति, किन्तु बुद्धिरेका विक्रीयत इति भावः ॥२८॥

---

को ग्रहण करेगा तो विकारी हो जायगा-' क्योंकि पुरुष मे बुद्धि का जो प्रतिबिम्बात्मक उपराग होता है वह तात्त्विक नहीं होता । अत एव वह पुरुष को विकारयुक्त नहीं कर सकता । वादमहार्णव नामक ग्रन्थ मे यह बात इस प्रकार स्फुट की गई है कि जैसे एक दर्पण मे पडा हुआ किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उस दूसरे दर्पण मे भी संक्रान्त होता है जिसमे वस्तु के प्रतिबिम्ब से युक्त पहला दर्पण प्रतिबिम्बित होता है । उसी प्रकार वस्तु का प्रतिबिम्ब बुद्धि मे पडता है और उस प्रतिबिम्ब से युक्त बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष मे पडता है । अत: बुद्धिगत वस्तुप्रतिबिम्ब पुरुष मे भासित होता है । बुद्धि के प्रतिबिम्ब द्वारा पुरुष मे बुद्धिगत वस्तुप्रतिबिम्ब का भासित होना ही पुरुष का भोक्तृत्व है । इस प्रकार का भोक्तृत्व होने पर भी पुरुष मे कोई विकार नहीं होता । अन्य विद्वानो का इस सम्बन्ध मे यह कहना है कि बुद्धि मे पुरुष-आत्मा का प्रतिबिम्ब होने पर आत्मा के दो रूप हो जाते हैं । एक प्रतिबिम्ब आत्मा और दूसरा बिम्बात्मा । इन मे बुद्धिगतभोग का सम्बन्ध प्रतिबिम्बात्मा मे ही होता है बिम्बात्मा मे नहीं होता । अतः प्रतिबिम्बात्मा के विकृत होने पर भी बिम्बात्मा की निर्विकारता यथापूर्व बनी रहती है ॥२७॥

## (आत्मसंनिधान से अन्त:करण मे औपाधिक चैतन्य)

२८ वीं कारिका मे पूर्व सकेतित साख्यवेत्ताओं के कथन को स्पष्ट किया गया है । कारिका अर्थ इसप्रकार है—

आत्मा अपने सन्निधान से अचेतन मन को उपरक्त करता है अर्थात् उसमे अपने चैतन्य की प्रतीति कराता है और ऐसा करने पर भी वह अपने स्वरूप से अविकृत ही रहता है । यह बात स्फटिक के दृष्टान्त से बताई गई है । आशय यह है कि जैसे पद्मरागमणि आदि उपाधि समीपस्थ स्फटिक मणि को अपने वर्ण के सक्रमण द्वारा उपरक्त करती है किन्तु ऐसा करने पर भी वह

ततः किम्? इत्याह–

**मूलम्–विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।**
**प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥२९॥**

विभक्ता=आत्मभिन्ना, ईदृक्परिणतिः=अभिहितपुरुषोपरागपरिणामा च, इति कर्मधारयः, तस्यां, बुद्धौ=अन्तःकरणलक्षणायाम्, अस्य=आत्मनः, भोगः कथ्यते, आसुरिप्रभृतिभिः। किवत्? इत्याह-यथा चन्द्रमसः=वास्तवस्य चन्द्रस्य, प्रतिबिम्बोदयः=प्रतिबिम्बपरिणामः, स्वच्छे=निर्मले, अम्भसि=जले ॥२९॥

तदिदमखिलमपाकुर्वन्नाह–

**मूलम्–प्रतिबिम्बोदयोऽप्यस्य नामूर्त्तत्वेन युज्यते।**
**मुक्तेरतिप्रसङ्गाच्च न वै भोगः कदाचन ॥३०॥**

प्रतिबिम्बोदयोऽपि, अस्य=अमूर्तत्वेन न युज्यते, छायावन्मूर्तद्रव्येणैव हि प्रतिबिम्बाख्यं स्वाकारं भास्वरद्रव्योपादानं द्रव्यमारभ्यते, तथा चार्षम्–[प्र. म. टीका वृ० ३०५/२]

'सामा उ दिया छाया अभासुरगया णिसिं तु कालाभा।
सच्चेह भासुरगया सदेहवण्णा मुणेयव्वा ॥१॥ इति।

---

स्वय विकृत नहीं होता अपितु उस के उपराग-सम्बन्ध से स्फटिक ही विकृत होता है उसी प्रकार आत्मा भी बुद्धि मे अपने उपराग का जनक होकर भी स्वय नहीं विकृत होता, किन्तु उस के उपराग से बुद्धि ही विकृत होती है ॥२८॥

### (बुद्धि मे पुरुषोपराग ही आत्मा का भोग है-आसुरि)

२९ वीं कारिका मे पूर्व कारिका के कथन का निष्कर्ष बताया गया है।

कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

बुद्धि अन्त करण रूप है और पूर्वकारिका मे वर्णित पुरुषोपरागरूप परिणाम से युक्त है एव आत्मा से विभक्त=भिन्न है, वास्तव मे भोग उसी मे होता है। साख्यशास्त्र के आसुरि आदि विद्वानो ने आत्मा मे जो भोग का उल्लेख किया है वह भोगयुक्त बुद्धि मे आत्मा के उपराग के कारण ही है, एव अवास्तव है। यह बात जल मे चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से स्फुट होती है। जैसे अविकृत चन्द्रमा का निर्मल जल मे प्रतिबिम्बात्मक परिणाम होता है उसी प्रकार सूक्ष्म बुद्धितत्त्व मे अविकृत आत्मा का भी प्रतिबिम्बपरिणामात्मक उपराग हो सकता है ॥२९॥

### [अमूर्त आत्मा का प्रतिबिम्ब असंगत है]

३० वीं कारिका मे पूर्वकारिका तक साख्य की ओर से प्रकट किये गये सम्पूर्ण विचार का निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

---

(१) श्यामा तु दिवा छायाऽभास्वरगता निशि तु कालाभा। सा चेह भास्वरगता स्वदेहवर्णा ज्ञातव्या ॥१॥

युक्तं चैतत्, अन्यथेदंत्वावच्छेदेन मुखभेदग्रहाऽभावात् । 'इदं मुखम्' इति प्रतीतेः कथञ्चिदुपपादनेऽपि 'इदं मुखप्रतिबिम्बम्' इति प्रतीतेः कथमप्युपपादयितुमशक्यत्वात् । मुखभ्रमाधिष्ठानत्वरूपमुखप्रतिबिम्बत्वस्य प्रागेवाऽग्रहात्, 'आदर्शे मुखप्रतिबिम्बम्' इत्याधाराऽऽधेयभावाध्यवसायानुपपत्तेश्च । एतेन 'मुखे बिम्बत्वमिवाऽऽदर्श एव प्रतिबिम्बत्वं मुखसांनिध्य-दोषाऽभावादिसामग्र्याऽभिव्यज्यते' इति निरस्तम्, बिम्बोत्कर्षानुपपत्तेः, प्रतिबिम्बत्वाऽग्राहकसामग्र्या एवादर्शभेदभ्रमहेतुत्वेन 'अय नाऽऽदर्शः, किन्तु मुखप्रतिबिम्बम्' इति भावे-

आत्मा अमूर्त्त है। इसलिये बुद्धि तत्त्व मे उसके प्रतिबिम्ब का उदय युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि जो द्रव्य मूर्त एव छायावान होता है वही किसी भास्वर मे अपने आकार का प्रतिबिम्बक द्रव्य को उत्पन्न कर सकता है जैसा कि 'सामा उदीयाः' इस ऋषिप्रणीत गाथा मे कहा गया है। गाथा का अर्थ यह है कि-' दिन मे किसी अभास्वरद्रव्य मे श्यामवर्णा और 'रात्रि के समय कृष्णवर्णा छाया होती है। वही जब भास्वरद्रव्य मे प्रतिबिम्बित होती है। तब अपने द्रव्य के ही वर्ण मे दिखाई देती है।''इस गाथा से स्पष्ट है कि छायावान् मूर्त द्रव्य का ही भास्वर द्रव्य मे प्रतिबिम्ब होता है । अतः छायाहीन अमूर्त आत्मा का बुद्धि में प्रतिबिम्ब मानना सङ्गत नहीं हो सकता। 'छायावान् मूर्त द्रव्य भास्वरद्रव्य में अपने समान प्रतिबिम्ब द्रव्य को उत्पन्न करता है' यह मानना ही युक्तिसङ्गत है क्योंकि यदि छायावान् मूर्त द्रव्य से भास्वर द्रव्य में उस के सदृश नये प्रतिबिम्ब द्रव्य की उत्पत्ति न मानी जायगी किन्तु भास्वर द्रव्य को बिम्बभूत द्रव्य के भ्रम का अधिष्ठान मात्र माना जायगा तो दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब होने पर जो 'इद मुखम्' यह प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति तो हो सकती है, क्योंकि 'इद न मुखम्' इस प्रकार भेदग्रह न रहने के कारण 'इद मुखम्' इस प्रतीति के होने में कोई बाधक नहीं हो सकता, किन्तु दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब होने पर 'इद मुखप्रतिबिम्बम्' यह भी प्रतीति होती है जिसका उपपादन नहीं हो सकेगा। क्योंकि यदि दर्पण में प्रतिबिम्ब मुख की उत्पत्ति न मानी जायगी तो मुख का प्रतिबिम्बत्व जो मुखभ्रम का अधिष्ठानत्वरूप है वह प्रतिबिम्ब काल में गृहीत नहीं है अतः 'इद मुखप्रतिबिम्बम्' प्रतीति का होना अशक्य है। और यदि प्रतिबिम्ब को द्रव्यात्मक न माना जायगा तो 'आदर्शे मुखप्रतिबिम्बम्' इस प्रकार दर्पण और मुखप्रतिबिम्ब में आधार आधेयभाव की प्रतीति भी न हो सकेगी, क्योंकि आधेय के अभाव में केवल आधार मात्र से आधार-आधेय भाव की प्रतीति नहीं हो सकती है।

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह कहना है कि-दर्पण मे मुख का प्रतिबिम्ब पडते समय प्रतिबिम्बात्मक किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु मुखसान्निध्य और दोषाभावादि सामग्री से मुखमे बिम्बत्व और 'दर्पण में प्रतिबिम्बत्व की अभिव्यक्ति होती है-किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में आदर्श ही प्रतिबिम्ब कहा जायगा । अत: आदर्श और प्रतिबिम्ब में आधार आधेय भाव की उक्त प्रतीति की उपपत्ति इस मत में भी न हो सकेगी। एवं बिम्ब के उत्कर्ष से प्रतिबिम्ब का उत्कर्ष भी न हो सकेगा । आशय यह है कि दर्पण में छोटे मुख का छोटा प्रतिबिम्ब दीखता है और बडे मुख का बडा प्रतिबिम्ब दीखता है। यदि प्रतिबिम्ब नाम के नये द्रव्य की उत्पत्त नहीं होगी किन्तु आदर्श में ही प्रतिबिम्बत्व की अभिव्यक्ति मानी जायगी तो प्रतिबिम्ब में बिम्बाधीन अपकर्ष-उत्कर्ष की उपपत्ति न हो सकेगी। और प्रतिबिम्ब के समय 'अय न आदर्शः'-यह दर्पण नहीं है किन्तु

जनीनानुभवानुपपत्तेश्च । न च प्रतिबिम्बस्य द्रव्यत्वे सावधिकत्वानुपपत्तिः, प्रतिबिम्बधर्मस्यैव महत्त्ववत् सावधिकत्वात् । न चाश्रयनाशे तन्नाशानुपपत्तिः, बिम्बसंनिधाननिमित्तजनितस्य तस्य तन्नाशेनैव नाशसंभवात् । न चैवमनन्तप्रतिबिम्बोत्पत्तिनाशादिकल्पने गौरवम्, सादृश्यातिरिक्तानन्तदोषादिकल्पने तवैव गौरवात्, अनुभवापलापाच्चेति, अधिकमाकरे । स्फटिकादौ लौहित्यादिकमपि पद्मरागादिमूर्तसंनिधिजन्य एव परिणामविशेषः, साक्षात्संबन्धेन तत्प्रतीतौ परम्परासंबन्धस्याऽतिप्रसक्तत्वात् । स्फटिकादिनिष्ठतया लोहिताश्रयसंसर्गस्य साक्षात्संबन्धेन लौहित्यभ्रमजनकत्वे तत्र विशेषदर्शनादेरुत्तेजकत्वे, परंपरासंबन्धेन लौहित्यप्रमानियामकत्वादिकल्पने चातिगौरवात् लौहित्यमात्रजनकत्वकल्पनाया एव न्याय्यत्वात्, अभिभूताऽनभिभूतरूपयोः समावेशस्याऽनुभवसिद्धत्वेनाऽविरुद्धत्वात्, नियतारम्भनिरासाच्चेति, अन्यत्र विस्तरः ।

मुखका प्रतिबिम्ब है' यह सार्वजनीन अनुभव होता है । इस अनुभव की भी उपपत्ति न हो सकेगी । क्योंकि प्रतिबिम्बत्व की अग्राहक सामग्री ही आदर्श के भेदभ्रम का हेतु होती है । अत. आदर्श के भेदभ्रम के साथ प्रतिबिम्बत्व का ज्ञान होना सभव नहीं हो सकता ।—'प्रतिबिम्ब को अतिरिक्त द्रव्य मानने पर उस मे बिम्बावधिकत्व न हो सकेगा अर्थात् जब तक बिम्ब रहे तब तक उसका अस्तित्व न होकर बिम्ब के अभाव मे भी उस के अस्तित्व की प्रसक्ति होगी –यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्बावधिक नहीं होता किन्तु उस का प्रतिबिम्बत्वरूप धर्म ही सावधिक होता हे । अर्थात् बिम्ब के न होने पर प्रतिबिम्ब का अभाव नहीं होता । किन्तु प्रतिबिम्बत्व की बुद्धि निरुद्ध हो जाती है, क्योंकि प्रतिबिम्बत्व के ग्रहण मे बिम्ब का सन्निधान कारण होता है । इसे महत्त्व (=महत्परिमाण) के दृष्टान्त से समझा जा सकता है । जैसे, जिस द्रव्य मे जिस द्रव्य की अपेक्षा महत्त्व की प्रतीति होती है उस द्रव्य के अभाव मे महत्त्वेन प्रतीत होनेवाला द्रव्य का अभाव नहीं होता अपितु महत्त्व की प्रतीति का निरोध मात्र होता है । अत. जैसे महत्त्व का आश्रयभूत द्रव्य लघुद्रव्य से सावधिक नहीं होता किन्तु उस का महत्व ही उस से सावधिक होता है उसी प्रकार प्रतिबिम्बात्मक द्रव्य बिम्बावधिक नहीं होता किन्तु उस का प्रतिबिम्बत्व रूप धर्म ही बिम्बावधिक होता है ।

आश्रय नाश से प्रतिबिम्बक द्रव्य के नाश की अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिबिम्बक द्रव्य बिम्बसनिधान रूप निमित्त से उत्पन्न होता है अतः आश्रयनाश होने पर उस निमित्त का नाश होने के कारण प्रतिबिम्बक द्रव्य का नाश हो सकता हे क्योंकि निमित्त का नाश नैमित्तक के नाश का कारण होता है । अतिरिक्त प्रतिबिम्बक द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर अनन्त प्रतिबिम्बो की उत्पत्ति और उन के नाश आदि की कल्पना मे गौरव होगा' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रतिबिम्ब को बिम्बभ्रम माननेवाले साख्य को सादृश्य से अतिरिक्त भ्रमजनक अनत दोष की कल्पना आवश्यक होने से साख्यमत मे ही गौरव है । और उस मत मे बिम्बभूत मुख से भिन्न प्रतिबिम्बमुख देखने के सर्वजनसिद्ध अनुभव का साख्यमत मे अपलाप भी होता है । इस विषय का अधिक विचार आकर ग्रन्थ में द्रष्टव्य है ।

स्फटिकादि में जो लौहित्यादि प्रतीत होता है वह भी पद्मरागादि मूर्त द्रव्य के सनिधान से उत्पन्न होनेवाला स्फटिकादि का परिणामविशेष ही है । और स्फटिक में उस की प्रतीति साक्षात्

अथ 'न पुरुषजन्यः पुरुषोपरागः, किन्तु पुरुषभेदाऽग्रहादसत एव तस्योत्पत्तिः, सदुपरागेण भानाच्च नाऽसत्ख्याति'रिति चेत् ? गतं तर्हि सत्कार्यवादेन। 'बुद्धौ सन्नेव पुरुषोपरागः कदाचिदाविर्भवतीति चेत् ? तर्हि बुद्ध्युत्पत्तेः पूर्वं पुरुषस्यानुपरक्ततया मोक्षः स्यात्, प्रकृतेः साधारणत्वेनाऽनुपरञ्जकत्वात्'। 'पूर्वबुद्धिवासनानुवृत्तेः साधारण्येऽप्यसाधारणी प्रकृति'रिति चेत् ? न, 'बुद्धिनिवृत्तावपि तद्धर्मवासनानुवृत्तिः' इत्युपदर्शनम्। 'सौक्ष्म्याद् न दोष इति' चेत् ? मुक्तावपि तत्प्रसङ्गः। 'निरधिकारित्वाद् नैवमि'ति चेत् ? तर्हि साधिकारा प्रसुप्तस्वभावा बुद्धिरेव प्रकृतिरस्तु, कृतमन्तरा प्रकृत्य-ऽहङ्कार मनः-शब्दानामर्थान्तरकल्पनया, सैव हि तत्तद्व्यापारयोगात् तेन तेन शब्देन व्यपदिश्यते शरीरवायुवत्, इत्यागमस्यापि न विरोध इति। स्वीक्रियतां वा यथा कथञ्चिद् तस्याऽतात्त्विको भोगः तथाप्यन्यद्दूषणमित्याह-मुक्तेरतिप्रसङ्गाच्च=तेषां प्रतिबिम्बाभावात् संसारिणामपि मुक्तैकस्वभावत्वात्, वै=निश्चितम्, कदाचन=कदाचिदपि, भोगो न स्यात् ॥३०॥

आत्मा का प्रतिबिम्ब माना जायगा तो आत्मा को उस प्रतिबिम्ब का कारण मानना होगा। और ऐसा मानने पर आत्मा के साख्य सम्मत अकारणत्व सिद्धान्त का भङ्ग हो जायगा।

### [ असत् पुरुषोपराग कि उत्पत्ति मे सत्कार्यवाद विलय ]

यदि यह कहा जाय कि- बुद्धि मे पुरुष का प्रतिबिम्बाख्य उपराग पुरुषजन्य नही होता अपितु बुद्धि पुरुष के भेद का ज्ञान न होने से प्रथमतः अविद्यमान ही पुरुषोपराग की उत्पत्ति होती है। बुद्धि और पुरुष इन दो सत्पदार्थो के सम्पर्क से असत् भी पुरुषोपराग का ज्ञान होता है। ऐसा मानने पर बौद्ध की असत्ख्याति का यहा प्रवेश नहीं हो सकता, क्योकि उन मत मे सत् वस्तु का सर्वथा अभाव होने से सत् के सम्बन्ध से असत् का ज्ञान नही माना जा सकता -किन्तु यह ठीक नहीं है क्योकि असत् पुरुषोपराग की उत्पत्ति मानने पर 'कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण मे सत् होता है इस साख्य के सुप्रसिद्ध सत् कार्य सिद्धान्त का भङ्ग हो जायगा। 'वह बुद्धि मे पहले से ही विद्यमान रहता है समय विशेष मे उसका आविर्भाव होता है'-यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योकि एसा मानने पर बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व पुरुष मे किसी प्रकार की उपरक्तता-ससृष्टता नहीं रहने से प्रकृतिव्यापार से पहले ही पुरुष मुक्त हो जायगा 'बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति से उपरक्त होने के कारण उस समय भी पुरुष की मुक्तता नहीं हो सकती'-यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योकि प्रकृति आत्मा मात्र के प्रति साधारण होने से किसी को उपराग द्वारा नहीं बाँध सकती।

अगर कहें 'प्रकृति सर्वसाधारण होने पर भी पूर्वबुद्धि की वासना का अनुवर्त्तन होने के कारण असाधारण हो सकती है अत उस से भी पुरुष का उपरञ्जन-बन्धन हो सकता है' तो यह ठीक नहीं है क्योकि प्रलयावस्था मे बुद्धि की निवृत्ति हो जाने पर भी बुद्धि के वासनात्मक धर्म की अनुवृत्ति मानने मे साख्य का अपसिद्धान्त हो जाता है। 'प्रलयावस्था मे बुद्धि की और उस के धर्मभूत वासना की सूक्ष्मरूप से स्थिति होने के कारण यह दोष नहीं हो सकता'-यह कथन भी ठीक नहीं है क्योकि ऐसा मानने पर मोक्षदशा मे भी बुद्धि और बुद्धिगत वासना का सूक्ष्मरूप मे अवस्थान मानना होगा, अतः

अथ यदि संसारिणां प्रतिबिम्बोदयस्वभावः, तदाह—

**मूलम्**—न च पूर्वस्वभावत्वात्स मुक्तानामसंगतः ।
स्वभावान्तरभावे च परिणामोऽनिवारितः ॥३१॥

न च=नवा सः=प्रतिबिम्बोदयस्वभावः, पूर्वस्वभावत्वात् समार्यवस्थैकस्वभावत्वात्, मुक्तानामसंगतः किन्तु संगत एव, अन्यथा नित्यत्वक्षतेः, एवमपि कदाचन न भोगः किन्तु सर्वदैव स्यात्, इति योजना । स्वभावान्तरभावे च=अमुक्तस्वभावपरित्यागेन मुक्तस्वभावोत्पादे च मुक्तानामिष्यमाणे अनिवारितः परिणामः, स्वभावान्यथात्वस्यैव तल्लक्षणत्वात् ।

---

मोक्ष की उपपत्ति न हो सकेगी। यदि कहा जाय कि-मोक्षदशा मे बुद्धि अधिकारहीन हो जाती है। अत एव उस का बन्धन सामर्थ्य समाप्त हो जाने से उस के रहने पर भी मोक्ष की अनुपपत्ति नहीं हो सकती-तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर अधिकारयुक्त प्रसुप्त स्वभाववाली बुद्धि को ही प्रकृति माना जा सकता है। और इस प्रकार प्रकृति-अहङ्कार-मन ये सभी शब्दों के अर्थभेद की कल्पना अनावश्यक और अप्रामाणिक हो जायगी, क्योंकि बुद्धि प्रकृति, अहंकार और मन के व्यापारों के सम्बन्ध से प्रकृति आदि शब्दों से उसी प्रकार व्यपदिष्ट हो सकेगी जैसे शरीरस्थ एक ही वायु व्यापार भेद से प्राण-अपान आदि विभिन्न शब्दों से व्यपदिष्ट होता है। इस प्रकार प्रकृति अहङ्कारादि विभिन्न शब्दों से तत्त्व का निरूपण करनेवाले सांख्यशास्त्र का विरोध नहीं होगा और यदि किसी प्रकार आत्मा मे अतात्त्विकभोग मान भी लिया जाय तो उक्त दोषों का कथञ्चित् निराकरण हो सकने पर भी संसारदशा मे मोक्ष का अतिप्रसङ्ग होगा क्योंकि अमूर्तद्रव्य का प्रतिबिम्ब न मानने पर संसारी आत्मा भी मुक्तकल्प ही होगा। और आत्मा का प्रतिबिम्ब न मानने पर आत्मा मे कभी भी भोग न हो सकेगा ॥३१॥

## (अपरिणामी आत्मा प्रतिबिम्बोदय स्वभाव नहीं हो सकता)

३१ वीं कारिका मे संसारी आत्मा मे प्रतिबिम्बजनन स्वभाव होता है' इस मत की समीक्षा की गई है कारिका अर्थ इस प्रकार है—

संसारी आत्मा को प्रतिबिम्बजनन के स्वभाव से सम्पन्न मानकर भी संसारावस्था मे आत्मा मे मुक्तता की आपत्ति का परिहार हो सकता है। किन्तु संसारी आत्मा मे प्रतिबिम्बजनन स्वभाव मानने पर मुक्तात्मा को उस स्वभाव से विधुर कहना सङ्गत नहीं हो सकता। क्योंकि संसारावस्था मे आत्मा मे जो प्रतिबिम्बजननस्वभाव रहता है-मोक्षावस्था मे उस की निवृत्ति मानने पर आत्मा की नित्यता का भङ्ग हो जायगा और यदि मुक्तावस्था मे भी उस स्वभाव का अनुवर्तन माना जायगा तो आत्मा मे भोग केवल संसार दशा मे ही न होकर सब काल मे होने लगेगा। जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि आत्मा कभी मुक्त न हो सकेगी इस दोष का परिहार करने के लिये यदि यह माना जाय कि 'मोक्षदशा मे आत्मा के संसारकालीन अमुक्तस्वभाव की निवृत्ति हो जाती है और मुक्त स्वभाव की उत्पत्ति हो जाती है' तो आत्मा मे परिणामित्व की आपत्ति होगी। क्योंकि एक स्वभाव को छोड़कर स्वभावान्तर को ग्रहण करना ही परिणामी का लक्षण होता है।

'घटनाशे घटावच्छिन्नस्याकाशस्य घटानवच्छिन्नत्वेऽपि स्वभावाऽपरित्यागवत् सवासनबुद्धिनाशे विषयावच्छिन्नस्य चैतन्यस्य विषयानवच्छिन्नत्वेऽपि स्वभावाऽपरित्याग एवे'ति चेत् ? अहो ! असिद्धमसिद्धेन साधयति भवान्, घटनाशेऽप्याकाशस्य घटावच्छिन्नत्वस्वभावाऽपरित्यागे घटाकाशव्यवहारप्रसङ्गात्। किञ्च 'सा बुद्धिस्तमेवात्मानं विषयेणावच्छिनत्ति' इत्यत्र न किमपि नियामकं पश्यामः। तस्मात् बुद्धिरेव रागादिपरिणताऽऽत्मस्थानेऽभिषिच्यताम्। तस्या लयश्च रागादिलय एव, इति तत्रैव मुक्तिरिति युक्तम् ॥३१॥

देहात् पृथक्त्व आत्मनो दोषान्तरमाह—

दोहात्पृथक्त्व एवास्य न च हिंसादयः क्वचित्।
तदभावेऽनिमित्तत्वात्कथं बन्ध, शुभाशुभः ? ॥३२॥

देहात् पृथक्त्व एव=एकान्ततो देहपृथक्त्वे, अस्य=आत्मनः स्वीक्रियमाणे, न च हिंसादयः क्वचिद् भवेयुः। न हि ब्राह्मणशरीरहत्यैव ब्रह्महत्या, मृतब्राह्मणशरीरदाहेऽपि तत्प्रसङ्गात्। न च मरणोद्देशाभावादयमदोषः, तदुद्देशेनापि तत्प्रसङ्गात्। ब्राह्मणात्मनस्तु नाश एव न, इति ब्राह्मणं घ्नतोऽपि सा न स्यात्। 'ब्राह्मणशरीरावच्छिन्नज्ञानजनकमनःसंयोग-

---

यदि यह कहा जाय कि-'जसे घट का नाश होने पर घटावच्छिन्न आकाश घट से अनवच्छिन्न तो हो जाता है किन्तु वह अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता। उसी प्रकार वासानायुक्त बुद्धि का नाश होने पर विषयवावच्छिन्न चतन्य मे विषयानवच्छिन्नत्व हो जाने पर भी उसके स्वभाव का परित्याग नहीं हो सकता। अत विषयानवच्छिन्नत्व हो जाने से आत्मा की मुक्तता और स्वभाव का परित्याग न होने से उस को मुक्तता और अपरिणामिता दोनो की रक्षा हो सकती है।' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह कथन तो असिद्ध से असिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास है।

आशय यह है कि 'घटनाश होने पर घटावच्छिन्न आकाश के स्वभाव का परित्याग नहीं होता' यह बात असिद्ध है, क्योंकि घटनाश होने पर भी यदि आकाश का घटावच्छिन्नत्व स्वभाव बना रहेगा तो घटनाश हो जाने पर भी घटाकाश' इस व्यवहार की आपत्ति होगी। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि 'कोई एक निश्चित बुद्धि किसी एक निश्चित आत्मा को ही विषयोपरक्त कर सकती है, दूसरे को नहीं' इस बात का कोई नियामक ही नहीं है, क्योंकि आत्मा परिच्छिन्न न होने से सभी बुद्धि मे सभी आत्मा का सामीप्य सुलभ होता है। अतः उचित यह होगा कि रागादिरूप मे परिणतबुद्धि को ही आत्मा के स्थान मे अभिषिक्त किया जाय और आत्मा के अस्तित्व का अस्वीकार कर दिया जाय। ऐसा मानने पर यह निष्कर्ष होगा कि रागाद्यात्मक परिणाम ही बुद्धि स्वरूप आत्मा का बन्धन, और रागादिलयरूप सरागबुद्धि का लय ही बुद्धिरूप आत्मा की मुक्ति है। अत बुद्धि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सांख्य प्रक्रिया के अनुसार नहीं सिद्ध किया जा सकता ॥३१॥

[देह-आत्म भेद पक्ष मे ब्रह्महत्या की अनुपपत्ति]

३२ वीं कारिका मे आत्मा को देह से भिन्न मानने पर एक और अतिरिक्त दोष बताया गया है जो कारिका की व्याख्या करने से स्फुट होता है, कारिका की व्याख्या इस प्रकार है-

विशेषनाशानुकूलो व्यापार एव ब्रह्महत्ये' ति चेत् ? न, तादृशमनःसंयोगस्य स्वत एव नश्वरत्वात्, साक्षाद्घातानुपपत्तेश्च । 'ब्राह्मणशरीरावच्छिन्नदुःखविशेषानुकूलव्यापार एव ब्रह्महत्ये' ति चेत् ? शरीराच्छरीरिणः सर्वथा भेदे तच्छेदादिना तस्य दुःखमपि कथम् ? 'परम्परासम्बन्धेन तदात्मसंबन्धादि' ति चेत् ? साक्षादेव कथं न तत्संबन्धः ? शरीरावयवच्छेदे एव हि शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिरुपपद्यते, नाऽन्यथा, प्राणक्रियाया अपि तन्मात्रोपग्रहं विनाऽभावात् ।

आत्मा को देह से एकान्ततः (पूर्णतया) भिन्न मानने पर हिंसादि की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ब्राह्मण के शरीर की हत्या ब्रह्महत्या नहीं होती, अन्यथा मृतब्राह्मण के शरीर का दाह करने पर भी दाहकर्ता को ब्राह्मणहत्या को आपत्ति होगी। 'मरण के उद्देश से की जानेवाली हत्या ही वास्तविक हत्या होती है, मृत ब्राह्मण के शरीर का दाह मरण के उद्देश से नहीं होता क्योंकि दाहके पहले ही ब्राह्मण मृत रहता है। अत मृतब्राह्मण के शरीर का दाह हत्यारूप नहीं हो सकता" यह कथन भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण के प्रथमत मृत होने पर भी यदि मरण के उद्देश से उस के शरीर का दाह किया जाय तब भी उक्त दाह हत्या नहीं कहा जाता किन्तु यदि शरीर की हत्या को ही हत्या माना जायगा तो उक्त दाह मे भी हत्यात्व का परिहार नहीं हो सकता । ब्राह्मणात्मा के नाश को हत्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मा के नित्य होने से उस का नाश होता ही नहीं है। अत ब्राह्मणात्मा के नाश को हत्या मानने पर ब्राह्मणघाती भी ब्रह्महत्या से मुक्त हो जायगा ।

यदि यह कहा जाय कि-'जिस आत्ममन सयोग से ब्राह्मणशरीरावच्छेदेन ज्ञान उत्पन्न होता है उस आत्ममनःसंयोग का नाशव्यापार ही ब्रह्महत्या है'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न करनेवाला आत्मसयोग घातक व्यापार न होने पर भी स्वय ही नष्ट हो जाता है। और उस का साक्षात् घात हो भी नहीं सकता। 'ब्राह्मणशरीरावच्छेदेन दुःखविशेष का जनक व्यापार ही ब्रह्महत्या है'-यह भी नहीं कहा जाता है, क्योंकि शरीर से आत्मा को अत्यन्त भिन्न मानने पर शरीर के छेदन आदि से आत्मा मे दु:ख का होना सगत नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि-'देह के छेदन आदि का आत्मा मे परम्परासम्बन्ध होने से आत्मा मे भी उस से दुःख का उदय हो सकता है-' तो यह कहने की अपेक्षा यह मानना अधिक उचित है कि आत्मा के साथ देह के छेदन आदि का साक्षात् ही सम्बन्ध होता है, इसलिए ही आत्मा को देह से पूर्णतया भिन्न नहीं माना जाता है। देह और आत्मा मे अत्यन्त भेद न मानकर कथञ्चित् अभेद मानना इसलिए भी आवश्यक है कि शरीर के किसी अवयव का छेद होने पर जब अवयव शरीर से अलग हो जाता है तब भी कुछ समय तक छिन्न अवयव मे कम्प होता है। यह कम्प तभी हो सकता है जब शरीर के अवयव का छेद होने पर आत्मा के अवयव का भी छेद हो और आत्मा का छिन्न अवयव शरीर के छिन्न अवयव मे विद्यमान हो। ऐसा न मानने पर शरीर के छिन्न अवयव मे आत्मा का सम्बन्ध न होने से इस मे कम्प नहीं हो सकता। 'आत्मसम्बन्ध के अभाव मे भी प्राण की क्रिया से भी शरीर के छिन्न अवयव मे कम्प की उत्पत्ति नहीं की जा सकती'-क्योंकि प्राण की क्रिया भी शरीर या शरीर के अवयव मे तभी होती है जब उस मे आत्मा

नन्वेवं छिन्नावयवानुप्रविष्टस्य पृथगात्मत्वप्रसक्तिः स्यादिति चेत् ? न, तत्रैव पश्चादनुप्रवेशात् । छिन्ने हस्तादौ कम्पादितल्लिङ्गादर्शनादित्थं कल्पनात् । न चैकत्वादात्मनो विभागाऽभावाच्छेदाभाव इति वाच्यम्, शरीरद्वारेण तस्यापि सविभागत्वात्, अन्यथा सावयवशरीरव्यापिता तस्य न स्यात् । तथा च तच्छेदनान्तरीयकश्छेदो न स्यात् । 'छिन्नाऽच्छिन्नयोः कथं पश्चात् संघटनम्?' इति चेत् ? न, एकान्तेनाच्छिन्नत्वात्, पद्मनालतन्तुवच्छेदेऽपि च्छेदाभ्युपगमात् । संघटनमपि तथाभूताऽदृष्टवशादविरुद्धमेव । 'हन्त ! एवं शरीरदाहेऽप्यात्मदाहः स्यादि' ति चेत् ? न, क्षीर नीरयोरिवाऽभिन्नत्वेऽपि भिन्नलक्षणत्वेन तद्दोषाभावादिति, अन्यत्रविस्तरः ।

तस्माद् देहादात्मन एकान्तपृथक्त्वे हिंसाद्यभावः, **तदभावे**=हिंसाद्यभावे, **अनिमित्तत्वात्**=निमित्तसंनिधानाऽभावात्, कथं शुभाऽशुभो बन्धः ? अत्र शुभश्चाऽशुभश्चेति विग्रहे द्विवचनापत्तिः, कर्मधारये च बाध इति शुभेन सहितोऽशुभ इति व्याख्येयम् ॥३२॥

---

का सम्बन्ध हो अत. देह और आत्मा मे अभेद मानकर देहावयव का छेद होने पर आत्म-अवयव का छेद मानना और आत्म-अवयव के सम्पर्क से ही छिन्न देहावयव मे कम्प की उपपत्ति करना आवश्यक है।

[छिन्न अवयव मे पृथक् आत्म प्रसंग का निवारण]

'देह और आत्मा का अभेद होने से देहावयव के छेद से आत्म-अवयव का छेद होता है ऐसा मानने पर देहके छिन्न अवयव मे आत्मा का जो भाग अनुप्रविष्ट रहेगा वह एक पृथक् आत्मा ही हो जायगा'-यह शका नहीं की जा सकती, क्योकि आत्मा का जो भाग छिन्न देहावयव के साथ बाहर आता है वह थोडे समय बाद पूर्व शरीर मे ही प्रविष्ट हो जाता है । यह कल्पना इसलिए की जाती है, कि देह के छिन्न अवयव मे कुछ समय तक कम्प होता है और बाद मे कम्प नहीं होता है, अत बाद मे भी छिन्न अवयव मे आत्मभाग का सम्बन्ध बना रहता है'-यह मानने मे कोई युक्ति नहीं है -'आत्मा एक होता है अत इस मे विभाग सभव न हो सकने से उस का छेद नहीं हो सकता'-यह शका भी उचित नहीं है क्योकि देह और आत्मा मे ऐक्य मानने पर देह मे विभाग सभव होने के कारण देह के द्वारा आत्मा मे भी विभाग मानना युक्तिसगत हो सकता है। यदि आत्मा को सावयव न माना जायगा तो वह सावयव शरीर मे व्यापक नहीं हो सकेगा और देह छेद के साथ आत्म छेद की अनिवार्यता भी न हो सकेगी।

'छिन्न देहावयव का शेष शरीर के साथ बाद मे जैसे सघट्टन नहीं हो पाता उसी प्रकार छिन्न आत्म-अवयवो का भी शरीरस्थ शेष आत्मा के साथ संघट्टन नहीं हो सकता'- यह शका भी उचित नहीं होती, क्योकि आत्मा का जो भाग देहके छिन्नावयव के साथ छिन्न होता है वह पूर्ण रूप से शरीरस्थ आत्मा से पृथग् नहीं होता । अत उस का संघट्टन हो सकता है किन्तु देहका जो हस्तादि अवयव देह से पृथग् होता है वह देह से पूर्णतया पृथग् हो जाता है अत देह के साथ उसका संघट्टन नहीं होता । छिन्न अश का अपने अशी के साथ सघट्टित होना कोई अद्भुत बात नहीं है।

ततः को दोषः ? इत्याह—

मूलम्-बन्धादृते न संसारो मुक्तिर्वास्योपपद्यते ।
यमादि तदभावे च सर्वमेव ह्यपार्थकम् ॥३३॥

बन्धादृते=बन्धं विना, देव-नारकादिरूपः संसारो न । नवाऽस्य=आत्मनः मुक्तिरुपपद्यते, बद्धानां कर्मणां क्षय एव हि मुक्तिरिति । तदभावे च=मुक्त्यभावे च, सर्वमेव हि=निश्चितम्, यमादि=यमनियमादिकं योगानुष्ठानम् अपार्थकम्=विपरीतप्रयोजनम् । कः खलु फलमनभिलषन्नेव दुष्करक्लेशैरात्मानमवसादयेत ? ॥३३॥

क्योंकि कमलनाल के छिन्न तंतु का छिन्न नाल के साथ संघट्टन सर्वानुभव सिद्ध है। 'बिना कारण संघट्टन कैसे हो सकता है' ? इस शंका को भी अवसर नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि अदृष्ट बड़ा शक्तिशाली कारण होता है। अत एव जिस छिन्न अंश का छिन्न अंशी के साथ संघट्टनकारी अदृष्ट रहता है उस का अंशी के साथ संघट्टन होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। यदि यह शंका की जाय कि 'देह और आत्मा में ऐक्य मानने पर शरीर का दाह होने पर आत्मा का भी दाह हो जायगा'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्षीर और नीर के समान अभिन्नता होने पर भी देह और आत्मा में कुछ भिन्नता भी होती है। उस भिन्नता के कारण ही शरीरदाह होने पर भी आत्मदाह नहीं होता जैसे नीर को वाष्प हो जाने पर उस के साथ ही क्षीर का विनाश नहीं हो जाता। इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है ।

निष्कर्ष यह है कि-आत्मा को देह से अत्यन्त भिन्न मानने पर हिंसादि का अभाव हो जायगा और हिंसादि का अभाव होने पर शुभाऽशुभ बन्ध का कोई निमित्त न होने से शुभाशुभ बन्ध भी न हो सकेगा। कारिका में आये शुभाशुभ शब्द का 'शुभश्च अशुभश्च' ऐसी व्युत्पत्ति मानकर द्वन्द्व समास द्वारा साधुपन नहीं हो सकता क्योंकि उक्त व्युत्पत्ति से द्वन्द्व मानने पर द्विवचन विभक्ति की आपत्ति होगी। कर्मधारय समास से भी साधुपन नहीं माना जा सकता क्योंकि शुभ और अशुभ में ऐक्य नहीं होता और कर्मधारय के लिए पूर्व और उत्तर पद के अर्थों में अभेद आवश्यक होता है, इसलिए 'शुभेन सहित अशुभ' यह व्युत्पत्ति कर मध्यमपदलोपीसमास से ही उसका साधुपन समझना चाहिए।

### [ बन्ध न होने पर मुक्त और संसारी के भेद की अनुपपत्ति ]

३३ वीं कारिका में शुभाऽशुभ बन्ध के अभाव में क्या दोष हो सकता है इस बात का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यदि शुभाशुभ बन्ध न होगा तो आत्मा संसारी न हो सकेगा, क्योंकि देव-नरक, मृत्युलोक आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध ही संसार कहलाता है और शुभाशुभ बन्ध ही उसका निमित्त माना जाता है। अतः उसके अभाव में निमित्त का अभाव हो जाने से संसार का होना असंभव हो जायगा। शुभाशुभ बन्ध के अभाव में आत्मा का मोक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि कर्मबन्ध के क्षय को ही मोक्ष कहा जाता है। जब आत्मा में कर्मबन्ध ही नहीं होगा तो फिर उसका क्षय कैसे संभव हो सकेगा ? यदि 'आत्मा का मोक्ष नहीं होता है' यह मान लिया जाय तो यम नियम आदि का कष्टसाध्य पालन निरर्थक हो जायगा क्योंकि कोई भी मनुष्य बिना किसी फल की कामना किये दुःसह क्लेशों से अपने आपको पीडित करने का कष्टमय व्यापार नहीं करता ॥३३॥

पराभिप्रायमाह-

मूलम्-आत्मा न बध्यते नापि मुच्यतेऽसौ कदाचन ।
बध्यते मुच्यते चापि प्रकृतिः स्वात्मनेति चेत् ॥३४॥

**असौ**=प्रत्यक्षसिद्धः आत्मा, **न बध्यते**=न प्राकृतिकादिबन्धपरिणतो भवति, सवासनक्लेशकर्माशयानां बन्धत्वेन समाम्नातानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसंभवात् । नापि कदाचन मुच्यते, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात् तस्य च सर्वदाऽबद्धत्वात् । कुत्र तर्हि बन्ध-मोक्षौ ? इत्यत आह-बध्यते प्रकृतिरेव **स्वात्मना**=स्वपरिणामलक्षणेन बन्धेन, मुच्यते चापि तेन प्रकृतिरेव, तत्रैव बन्धविश्लेषात् । पुरुषे तु तावुपचर्येते, भृत्यगताविव जय-पराजयौ स्वामिनीति । तदुक्तम्—

'तस्माद् न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥१॥[सां. का. ६२]इति । (समाधत्ते) इति चेत् ?

---

## [ प्रकृति के बन्ध और मोक्ष की आशंका ]

३४ वीं कारिका मे बन्धमोक्ष के सम्बन्ध मे सांख्यशास्त्र का मत प्रदर्शित किया है जो इस प्रकार है-आत्मा यथार्थ रूपमे न कभी बद्ध ही होता है न कभी मुक्त होता है। बद्ध इसलिए नही होता है कि आत्मा अपरिणामी होता है अत. वासना क्लेश और कर्माशयरूपी बन्ध उसको नहीं हो सकता, क्योकि यह बन्ध परिणामात्मक है, अतः प्राकृतिकआदि के रूप मे अपरिणामी आत्मा मे उसका होना असभव है । आत्मा का मोक्ष इसलिए नहीं हो सकता कि वह सर्वदा बन्धनहीन होता है अत' उसमे बन्धननिवृत्तिरूप मोक्ष की सम्भावना ही नही हो सकती । इसलिये आत्मा मे बन्ध और मोक्ष की अनुपपत्ति बताना असङ्गत है । वस्तु स्थिति यह है कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति मे होते है । और प्रकृति मे उनकी उपपत्ति होने मे कोई बाधा नहीं है क्योकि प्रकृति परिणामिनी होती है, अतः अपने परिणामो से बाधाजाना उसके लिये स्वाभाविक है । और जब उसमे बन्ध होता है तो निमित्त उपस्थित होने पर उसमे बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष का होना भी युक्ति सङ्गत है । 'प्रकृति मे बन्ध और मोक्ष मानने पर आत्मा मे बन्ध मोक्ष का व्यवहार कैसे होगा ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे युद्ध मे जयपराजय वस्तुत. राजा के सेवक सैनिको का होता है किन्तु उसका औपचारिक व्यवहार राजा मे माना जाता है, उसी प्रकार प्रकृति मे होने वाले बन्धमोक्ष का उसके अधिष्ठाता आत्मा मे औपचारिक व्यवहार माना जा सकता है । जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने 'तस्मात् न बध्यते' अपनी इस कारिका मे कहा है कि-आत्मा के कूटस्थ नित्य होने के कारण कोई भी आत्मा न कभी ससारी होता है न कभी बद्ध होता है और न कभी मुक्त होता है किन्तु अनेक रूपो मे परिणत होने की योग्यता रखने के कारण प्रकृति मे ही ससार, बन्ध और मोक्ष होते हैं पुरुष मे उनका व्यवहार मात्र होता है जो पूर्णरूप से औपचारिक=गौण है ।

अत्रोत्तरम्—

मूलम्—एकान्तेनैकरूपाया नित्यायाश्च न सर्वथा ।
तस्याः क्रियान्तराऽभावाद्बन्धमोक्षौ सुयुक्तितः ॥३५॥

एकान्तेनैकरूपायाः=सर्वथैकस्वभावायाः, सर्वथा नित्यायाश्च=सर्वैः प्रकारैः प्रवृत्तिरूपैकक्रियायाश्च, तस्याः प्रकृतेः, क्रियान्तराभावात्=निवृत्तिक्रियाया अभावात्, सुयुक्तितः=सन्न्यायात्, बन्ध मोक्षौ न । प्रकृति-पुरुषान्यताख्यातिरूपो हि व्यापारः पुरुषस्यैव, इति तस्यैव मोक्ष उचितः, न तु प्रकृतेः, तस्याः प्रवृत्त्येकरूपत्वात्, पुरुषार्थमचेतनत्वेन व्यापाराऽयोगाच्च ।

किञ्च प्रकृतेर्मुक्तौ पुरुषस्य स्वरूपावस्थाने तस्याः साधारणत्वादेकमुक्तौ संसारोच्छेदः, प्रकृतिवदात्मनोऽपि सर्वगतत्वेन 'एकावच्छेदेन मुक्तिः, नान्यावच्छेदेन' इत्यपि वक्तुमशक्यत्वात् । तद्बुद्ध्यवच्छेदेन मुक्तत्वम्, नान्यबुद्ध्यवच्छेदेन इत्यपि क्षीणायाबुद्धेरनवच्छेदकत्वादनुद्घोष्यम्, बुद्धियोगेन पुरुषस्य संसारित्वे तस्यैव मोक्षप्रसङ्गाच्च ॥३५॥

[ नित्य एक स्वरूप प्रकृति मे बन्ध मोक्ष असभव ]

३५ वीं कारिका मे पूर्वकारिकावर्णित सांख्यमत का समाधान करते हुए यह कहा गया है कि प्रकृति सर्वथा एकरूप और नित्य है । सदा प्रवृत्तिशील रहना ही उसका स्वभाव है । अत उस मे निवृत्तिरूप अन्यक्रिया नहीं हो सकती । इसीलिये उसमे बन्ध और मोक्ष न्यायसङ्गत नहीं हो सकते । 'प्रकृतेरह पृथक्=मैं प्रकृति से पृथक् हू' वैसा प्रकृति और पुरुष मे भेद का ज्ञान पुरुष का ही कार्य है और वही मोक्ष का साधन है इसलिये पुरुष मे ही मोक्ष हो सकता है प्रकृति मे नहीं, क्योंकि प्रवृत्तिशील रहना ही उसका सहज स्वभाव है । यह कहना कि—'प्रकृति ही पुरुष के भोग और मोक्ष दोनो प्रयोजन का सम्पादन करने के लिये व्यापाररत होती है । अत वे दोनो प्रयोजन प्रकृति के ही व्यापार से सम्पन्न होने के कारण प्रकृति के ही धर्म हो सकते हैं । प्रकृति ही उन मे पुरुषप्रयोजनत्व उपपन्न करती है।'—ठीक नहीं हो सकता । क्योंकि पृथ्वी अचेतन होती है अत एव पुरुष के लिये उसका व्यापाररत होना सम्भव नहीं है । व्यापाररत होने के लिये चैतन्य का होना आवश्यक है, क्योंकि ससार मे किसी भी जडपदार्थ मे स्वतन्त्ररूप से सक्रियता नहीं देखी जाती ।

यह भी ज्ञातव्य है कि पुरुष का मोक्ष न मानकर यदि प्रकृति का ही मोक्ष माना जायगा और प्रकृति के मोक्ष से ही पुरुष का अपने सहज स्वरूप मे अवस्थान होगा तो प्रकृति के सर्वसाधारण होने के कारण एक की मुक्ति होने पर समस्त ससार का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि प्रकृति जब किसी एक आत्मा के लिये अपना व्यापार बन्ध करेगी तो उसका वह व्यापार निरोध आत्मा मात्र के लिये हो जायगा, क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि एक ही समय मे प्रकृति निर्व्यापार भी हो और सव्यापार भी हो, चूंकि सव्यापारत्व और निर्व्यापारत्व मे विरोध है । यदि यह कहा

दोषान्तरमप्याह–

**मूलम्–मोक्षः प्रकृत्ययोगो यदतोऽस्याः स कथं भवेत् ।**
**स्वरूपविगमापत्तेस्तथा तन्त्रविरोधनः ! ॥ ३६ ॥**

मोक्षः प्रकृत्ययोगः, यत्–यस्मात् कारणात्, 'प्रकृतिवियोगो मोक्षः' इति वचनात्, अतो हेतोः, अस्याः प्रकृतेः, सः मोक्षः, कथं भवेत् ? कुत इत्याह **स्वरूपविगमापत्तेः**=प्रकृतिस्वरूपनिवृत्तिप्रसङ्गात्, पुरुषे तु तद्व्यापारनिवृत्तिद्वारा तन्निवृत्तिर्युज्येतापि न तु स्वस्मिन् स्वनिवृत्तिः संभवति, घटे घटनिवृत्त्यदर्शनात् अप्रसक्तस्याऽप्रतिषेधात् । तथा, तन्त्रविरोधतोऽपि प्रकृतेर्मोक्षः कथम् ? ॥३६॥

---

जाय कि–'सव्यापारता और निर्व्यापारता मे विरोध होने पर भी भिन्न भिन्न आत्मा के प्रति उन दोनो का समावेश प्रकृति मे एक काल मे भी हो सकता है । अतः प्रकृति मे एकपुरुषावच्छेदेन मुक्ति और अन्यपुरुषावच्छेदेन मुक्ति का अभाव होने से मुक्ति को प्रकृतिगत मानने पर भी ससार के उच्छेद की आपत्ति नहीं हो सकती ।'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति जैसे सर्वगत है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वगत है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति का एक भाग एक ही आत्मा से सम्बद्ध होता है और अन्य आत्मा से सम्बद्ध नहीं होता । और जब ऐसा नहीं हो सकता तब यह बात कैसे युक्ति सगत हो सकती है कि प्रकृति मे एक आत्मावच्छेदेन मुक्ति और अन्यात्मावच्छेदेन मुक्ति का अभाव होता है । यदि यह कहा जाय कि—'पुरुष के सर्वगत होने के कारण पुरुष से प्रकृति का अवच्छेद सम्भव नही हो सकता किन्तु बुद्धि के असर्वगत होने के नाते बुद्धि से अवच्छेद हो सकता है । अतः यह मानना सम्भव है कि प्रकृति जब एकबुद्ध्यवच्छेदेन मुक्त होती है तब अन्यबुद्ध्यवच्छेदेन अमुक्त भी रह सकती हैं'— तो यह ठीक नही है क्योंकि बुद्धि का क्षय होने पर ही यह मोक्ष होता है तो फिर क्षीणबुद्धि को मोक्ष का अवच्छेदक कैसे कहा जा सकता है ? और मुख्य बात तो यह है कि यदि पुरुष मे ससार का वास्तविक सम्बन्ध न ी होता किन्तु ससार का वास्तविक सम्बन्ध बुद्धि मे ही होता है तो फिर बुद्धि का ही मोक्ष मानना युक्तिसङ्गत हो सकता है, क्योंकि जो वास्तव रूप मे ससारी हो–वास्तवरूप मे वही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है । अत पुरुष को ससारी और मुक्त कहना असङ्गत है ॥३५॥

[ प्रकृतिवियोगात्मक मोक्ष आत्मा का ही संभवित है ]

३६ वीं कारिका मे मोक्ष को प्रकृतिगत मानने मे एक अन्य दोष बताते हुए कहा गया है कि 'प्रकृतिवियोगो मोक्ष' इस साख्यशास्त्रीय वचन के अनुसार प्रकृति के साथ सम्बन्ध का अभाव होना ही मोक्ष है । इसलिये वह प्रकृति मे नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति मे प्रकृति का असम्बन्ध मानने पर प्रकृति के स्वरूप की ही निवृत्ति हो जायगी । पुरुष मे तो प्रकृति का असम्बन्ध माना जा सकता है, क्योंकि पुरुष के साथ प्रकृति का सम्बन्ध प्रकृति के व्यापार से ही होता है अतः प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति होने पर प्रकृति के सम्बन्ध की निवृत्ति हो सकती

'एतदेवोपदर्शयन्नाह—

मूलम्-पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ।३७॥

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञः=प्रकृति-महदादिपञ्चविंशतितत्त्वरहस्यपरिज्ञाता, यत्र तत्र-गृहस्थादौ आश्रमे, रतः=तत्त्वज्ञानाभ्यासवान् , जटी=जटावान् , मुण्डी=मुण्डितशिराः, शिखी वापि-शिखावानपि, मुच्यते=प्रकृति-विकारोपधानविलयेन स्वरूपावस्थितो भवति, बाह्यलिङ्गमत्राऽकारणम् । नात्र संशयः=इदमित्थमेव, वचनप्रामाण्यात् ॥३७॥

निगमयति-

मूलम्-पुरुषस्योदिता मुक्तिरिति तन्त्रे चिरंतनैः ।
इत्थं न घटते चेयमिति सर्वमयुक्तिमत् ॥३८॥

इति=एतत्प्रकारे तन्त्रे=शास्त्रे, चिरंतनैः=पूर्वाचार्यैः, पुरुषस्य मुक्तिरुक्ता । न चेयं=पुरुषस्य मुक्तिः, इत्थं=उक्तप्रकारेण विचार्यमाणा, घटते इति हेतोः, सर्वं=साङ्ख्योक्तम् , अयुक्तिमत्=युक्तिरहितम् ॥३८॥

हैं। जैसे, घटादि किसी भी वस्तु मे उस वस्तु की निवृत्ति नहीं देखी जाती । क्योंकि स्व मे स्व की प्रसक्ति नहीं होती, अत स्व मे स्व का प्रतिषेध भी नहीं हो सकता, और प्रसक्त का ही प्रतिषेध होता है अप्रसक्त का नहीं । प्रकृति मे मोक्ष मानना शास्त्रविरुद्ध भी है जो सांख्यमतमान्य अग्रिम कारिका मे स्पष्ट है ॥३६॥

[साख्यसिद्धान्त मे पुरुष का ही मोक्ष कहा गया है]

३७ वीं कारिका मे पूर्वकारिका मे कथित शास्त्रविरोध का प्रदर्शन करते हुए कहा गया है कि-प्रकृति-महत्-आदि पचीस तत्त्वों का रहस्य जाननेवाला मनुष्य गृहस्थादि किसी भी आश्रम मे रहने पर मुक्त हो सकता है, चाहे वह जटा रखता हो या शिर का मुण्डन कराता हो अथवा चाहे वह शिखा धारण करता हो । प्रकृति आदि के तत्त्वज्ञान का अभ्यासद्वारा तत्त्वदर्शन हो जाने पर प्रकृति के विकारों का विलय होने से आत्मा अपने स्वरूप मे अवस्थित हो कर मुक्त हो सकता है। मोक्ष के लिये किसी भी प्रकार का बाह्य चिह्न अपेक्षित नहीं है । तत्त्वज्ञान से किसी भी स्थिति मे पुरुष के मुक्त होने मे कोई संशय नही है-यह तथ्य शास्त्रवचनो से सिद्ध है । इस स्थिति मे यह स्पष्ट है कि ज्ञाता पुरुष ही मुक्त हो सकता है । अचेतना प्रकृति तत्ववेत्ता नहीं हो सकती है, अत एव उसको मुक्ति नहीं मानी जा सकती ॥३७, ३८ वीं कारिका मे निष्कर्ष बताया जा रहा है—

शास्त्र मे पूर्वाचार्यों ने पुरुष की ही मुक्ति होती है ऐसा कहा है किन्तु साख्यमत मे पुरुष की मुक्ति नहीं हो सकती। जैसा कि विचार-विमर्श द्वारा सिद्ध हो चुका है । अत साख्य ने जो कुछ भी कहा है वह सब युक्तिहीन होने के कारण अमान्य है ॥३८॥

(१) एतत् तन्त्रम्-प्रकृत साङ्ख्यसिद्धान्त इति यावत् ।

अत्रापि यावद् यथोपपन्नं तावतस्तथावार्तामाह—

**मूलम्**-अत्रापि पुरुषस्यान्ये मुक्तिमिच्छन्ति वादिनः ।
प्रकृतिं चापि सन्न्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि ॥३९॥

**अत्रापि**=सांख्यवादे, अन्ये वादिनः=जैनाः, पुरुषस्य मुक्तिमिच्छन्ति प्रकृतिवियोगलक्षणाम् । प्रकृतिं चापि **सन्न्यायात्**=सत्तर्कात् , हि=निश्चितम् , कर्मप्रकृतिमेवेच्छन्ति, बुद्ध्यादीनां निमित्तत्वात् । तत्समन्वयश्च कथञ्चिदात्मादावेवोपपद्यते । सर्वथा सत्कार्यवादे तु सतः सिद्धत्वेनाऽकरणात् , साध्यार्थितयैवोपादानग्रहणात् , नियतादेव क्षीरादेः सामग्र्या दध्यादिदर्शनात् , सिद्धे शक्तस्यव्यापारात् , तादात्म्ये स्वस्मिन्निव कार्यं कारण[त्वा]भावाद् [इति] विपरीतं हेतुपञ्चकम् ।

---

## ( साख्यमत मे तथ्यांश का निरूपण )

३९ वीं कारिका मे साख्योक्त विषयो मे जिस रीति से उपपत्ति हो सकती है उस रीति से उस की उपपत्ति वताई गई है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

साख्यसिद्धान्त मे पुरुष की मुक्ति और प्रकृति का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार जैन विद्वानो ने पुरुष की मुक्ति व प्रकृति मान ली है और उनका कहना है कि पुरुष की प्रकृतिवियोगरूप मुक्ति होती है यह ठीक है किन्तु प्रकृति का जो स्वरूप साख्य ने माना है वह न्यायपूर्वक विचार करने पर जैन शासन मे वर्णित कर्मप्रकृति से भिन्न नहीं सिद्ध होती । अत. कर्मप्रकृति के रूप मे ही प्रकृति मान्य हो सकती है, क्योंकि वही वुद्धि आदि सम्पूर्ण जगत् की निमित्त कारण होती है । उसका सम्बन्ध भी कथञ्चित् आत्मा मे उपपन्न हो जाता है ।

## [ सत्कार्यवाद विरोधी हेतुपञ्चक ]

**सांख्यशास्त्र** मे सत्कार्यवाद का वर्णन किया गया है, वह भी यथावर्णित रूप मे जैन विद्वानो को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि कार्य को सर्वथा सत् मानने पर सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिये साख्यविद्वानो द्वारा प्रयोग मे लाये गये पाँचो हेतु विपरीत हो जाते हैं । अर्थात् (१) जैसे असत् का करण=जन्म नहीं हो सकता उसी प्रकार सर्वथा सत् का भी स्वत सिद्ध होने के कारण-जन्म नही हो सकता । (२) एव जो सिद्ध है उसके लिये उपादान का ग्रहण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वथा सिद्ध मे कुछ साधनीय नहीं होता और उपादान का ग्रहण साधनीय के लिये ही होता है । (३) सभी पदार्थो से सभी कार्यो की उत्पत्ति नहीं होती' यह हेतु भी सर्वथा सिद्धवस्तु के सम्बन्ध मे उपपन्न नहीं होता, क्योंकि नियत दुग्धादिसामग्री से दधि के रूप मे पूर्व असिद्ध का ही सपादन होता है । (४) 'शक्य द्वारा शक्य का ही करण होता है-' यह हेतु भी सर्वथा सिद्धवस्तु के सम्बन्ध मे युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति का व्यापार भी सिद्ध मे नही देखा जाता । (५) कार्य और कारण के तादात्म्य को भी सत्कार्यवाद का समर्थक नही किया जा सकता, क्योंकि कार्य और कारण मे सर्वथा तादात्म्य मानने पर कार्यकारण भाव ही नही हो सकता-जैसे वही वस्तु उस का कार्य और कारण नही होती । अतः

यदि कारणव्यापारात् प्रागपि पटस्तन्तुषु सन्नेव, तदा किमित्युपलब्धिकारणेषु सत्सु सत्यामपि जिज्ञासायां नोपलभ्यते ? 'अनाविर्भावादि'ति चेत् । कोऽयमनाविर्भावः ? उपलब्धेरभावश्चेत् । सैव कथम् इत्याक्षेपे तदेवोत्तरम् , इति घट्टकुट्यां प्रभातम् । अथोपलब्धियोग्यस्यार्थक्रियाकारिरूपस्य विरहोऽनाविर्भाव इति चेत् ? असत्कार्यवादः, तादृशरूपस्य प्रागसतः पश्चाद्भावात् । 'विजातीयसंयोगस्य तदवच्छेदेन सन्निकर्षस्य वा व्यञ्जकस्याऽभावाद् न प्रागुपलब्धिरि'ति चेत् ? तर्हि तस्यैव प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यापातः । 'प्राक् सन्नेवाविर्भूतो व्यञ्जक' इति चेत् ? न, आविर्भावस्यापि सदसद्विकल्पग्रासात् । 'स्थूलरूपावच्छिन्नस्य प्रागसत्त्वाद् नोपलब्धिः, धर्म-धर्मिणोः सौक्ष्म्यस्थौल्ययोश्चैकत्वाद् नानवस्थे'ति चेत् ? तर्हि सूक्ष्मरूपावच्छिन्नस्याऽहेतुकत्वेऽतिप्रसङ्गः । प्रकृतिमात्रहेतुकत्वे च स्थूलतादशायामपि तदापत्तिः, अनिर्मोक्षश्च इति न किञ्चिदेतत् । तस्माच्छबलस्यैव वस्तुनः कथञ्चित् सत्त्वम् असत्त्वं चोपपत्तिमत् । तथा च बुद्ध्यादीनामहंत्वसामानाधिकरण्येनाऽध्यवसीयमानत्वात् तद्धर्मतया तत्रैव समन्वयः, कर्मप्रकृतिस्तु तत्र निमित्तमात्रमिति प्रतिपत्तव्यम् ॥३१॥

इन हेतुओ से उत्पत्ति के पूर्व कार्य की एकान्त सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती अपितु यह सिद्ध होता है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारणपर्याय के रूप मे सत् होता है और कार्य पर्याय के रूप मे असत् होता है ।

पट अपने कारणों के व्यापार के पूर्व भी तन्तुओ मे यदि सर्वात्मना सत् होगा तो इस प्रश्न का कोई उत्तर दिया जाना कठिन होगा कि कारण व्यापार के पूर्व भी पट की उपलब्धि के समस्त कारणो के रहने पर और पट को उपलब्ध करने की इच्छा होने पर भी-पट की उपलब्धि क्यो नहीं होती ? 'उस समय पट का आविर्भाव न होने से पट की उपलब्धि नहीं होती' यह नहीं कहा जा सकता । क्योकि आविर्भाव न होने का अर्थ है उपलब्धि का अभाव । अतः कारणव्यापार के पहले कार्य की उपलब्धि नहीं क्यो होती ? इस प्रश्न का उत्तर यह नहीं दिया जा सकता कि कार्य की उपलब्धि का अभाव है, क्योकि जिस उपलब्धि के अभाव से कार्य की अनुपलब्धि मानी जायगी वह उपलब्धि क्यो नहीं होती ?' यह प्रश्न भी उठेगा । अत. यह उत्तर नदी के घाट पर नदी पार करने का कर ग्रहण करने के लिये बनी हुई कुटी मे ही प्रभात होने के समान होगा । आशय यह है कि जैसे कोई व्यक्ति रात्रि के समय नदी पार कर नदी और कुटी के बीच ही किसी रास्ते से इस अभिप्राय से नीकले कि जिससे कुटी पर उसे न जाना पडे और वह करदान से मुक्त हो जाय किन्तु रात के अन्धेरे मे चलते चलते उस कुटी पर ही पहुचने पर प्रभात हो जाय और वह कर ग्रहण करने वालो के घेरे मे आ जाय उसी प्रकार 'कार्य को उत्पत्ति के पहले सर्वथा सत् मानने पर कारण व्यापार के पूर्व कार्य-की उपलब्धि क्यों नहीं होती' इस प्रश्न का उक्त उत्तर देने पर उत्तरकर्ता पूर्वप्रश्न की परिधि मे ही फँस जाता है ।

यदि यह कहा जाय कि-आविर्भाव न होने का अर्थ है उपलब्धि योग्य वस्तु को उपलब्धि का विषय बनाने वाले रूप का अभाव ।-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर असत्कार्यवाद सिर पर खडा हो जाता है । क्योंकि उपलब्धि योग्य को उपलब्धि विषय बनाने वाले रूप का पहले

एवं च न पूर्वोक्तदोष इत्याह-

मूलम्-तस्याश्चानेकरूपत्वात् परिणामित्वयोगतः
आत्मनो बन्धनत्वाच्च नोक्तदोषसमुद्भवः ॥४०॥

तस्याश्च कर्मप्रकृतेः अनेकरूपत्वात् एकानेकशबलस्वभावत्वात्, परिणामित्वयोगतः ज्ञानावरणादिविपाकपरिणामोपपत्तेः, एकरूपत्व एवाऽनेककार्यजनकत्वाऽसंभवात् । आत्मनोऽन्योन्यानुप्रवेशेन बन्धनत्वात्=स्वरूपतिरोधायकत्वात्, कर्माऽऽत्मनोर्द्वयोरपि बन्धनबध्यस्वभावपरिणामात् तथोपपत्तेः, नोक्तदोषस्याऽनिर्मोक्षादेः समुद्भवोऽवकाशः ॥४०॥

---

अभाव और बाद मे उस का भाव मानने पर ही उक्त बात कही जा सकती है। यदि यदि यह कहा जाय कि—'पट व्यापार के पूर्व कार्य के साथ इन्द्रिय का विजातीय सयोग अथवा जिस स्थान मे कार्य की उपलब्धि होती है तत्स्थानावच्छेदेन इन्द्रियसन्निकर्षरूप व्यञ्जक का अभाव होने से कारण व्यापार के पूर्व कार्य की उपलब्धि नहीं होती—'तो यह भी ठीक नही है, क्योकि इस उत्तर मे भी उक्त सयोग या सन्निकर्ष का पहले अभाव और बाद मे भाव मानने से असत्कार्यवाद की आपत्ति होती है। यह भी नही कहा जा सकता कि-'उक्त सयोग या सन्निकर्ष पहले भी सत् रहता है किन्तु व्यञ्जक आविर्भूत होने पर व्यक्त होता है'-क्योकि उसके अविर्भाव के विषय मे भी सत् और असत् का विकल्प उठ सकता है।

यदि यह कहा जाय कि—कार्य स्थूल रूप से अवच्छिन्न होकर पहले नही रहता इसलिये पहले उसकी उपलब्धि नहीं होती और धर्म और धर्मी मे ऐक्य होने से कार्य के सूक्ष्म और स्थूल रूप मे ऐक्य होने से अनवस्था भी नहीं होती-तो यह कहना भी ठीक नहीं हो सकता, क्योकि सूक्ष्मरूपावच्छिन्नकार्य को यदि अहेतुक माना जायगा तो कार्य सूक्ष्मरूप से किसी नियत देश ही मे न रह कर अन्य देश मे भी उसके अस्तित्व की आपत्ति होगी और यदि प्रकृतिमात्र को ही उसका हेतु माना जायगा तो कार्य की स्थूलत्व दशा मे भी कार्य मे सूक्ष्मता की आपत्ति होगी और उस सूक्ष्मता के कारण पहले के समान कारणव्यापार के बाद भी कार्य की उपलब्धि न हो सकेगी और सूक्ष्मरूपावच्छिन्न कार्य को अहेतुक या प्रकृतिमात्र हेतुक मानने पर उसका कभी भी अभाव न हो सकने से उसका बन्धन बने रहने के कारण मोक्ष का अभाव हो जायगा इसलिये वस्तु को अनेकान्तात्मक मानकर ही उसके सत्त्व और असत्त्व का कथञ्चित् उपपादन युक्तिसगत हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि बुद्धयादि का अध्यवसाय अहमर्थ आत्मा मे होता है, अत एव उसे अहमर्थ का धर्म मानकर अहमर्थ मे ही उसका समन्वय मानना उचित है। कर्म प्रकृति तो उस मे निमित्त मात्र है ॥३९॥

### [ प्रकृतिस्थानीय कर्म से बन्ध और मोक्ष का सम्भव ]

४० वीं कारिका मे यह बताया गया है कि—सांख्यमत मे आत्मा मे ससारित्व और मुक्तत्व की अनुपपत्तिरूप दोष जैन मत मे नहीं हो सकता है। इस बात का उपपादन करते हुए कहा गया है कि कर्मप्रकृति अनेकरूप है अर्थात् एक अनेक स्थिर क्षणिक सत् असत् आदि रूपो से उस का स्वभाव शबल-बहुविध है। अतः उस मे ज्ञानावरणादि के विपाकात्मक परिणामों की उप-

परः शङ्कते–

मूलम्-नामूर्तं मूर्ततां याति मूर्त्तं नायात्यमूर्ततताम् ।
यतो बन्धाद्यतो न्यायादात्मनोऽसंगतं तया ॥४१॥

न अमूर्तं=रूपादिसन्निवेशरहितम् , मूर्ततां=रूपादिमत्परिणतिम् , याति=आश्रयति, आकाशादौ तथाऽदर्शनात् । तथा मूर्तं=रूपादिमत् , अमूर्ततां अमूर्तपरिणतिम् न आयाति परमाण्वादिषु तत्सद्भावाऽसिद्धेः, यतः=यस्मादेवं न स्वरूपविपर्ययो भवति, अतः=अस्मात् , न्यायात्=नियमात् तया=कर्मप्रकृत्या आत्मनो बन्धाद्यसंगतम् ॥४१॥

अत्रोत्तरम्–

मूलम्-देहस्पर्शादिसंवित्त्या न यात्येवेत्ययुक्तिमत् ।
अन्योन्यव्याप्तिजा चेयमिति बन्धादि संगतम् ॥४२॥

देहे स्पर्शः कण्टकादिस्पर्शः उपघातहेतूपनिपातोपलक्षणमेतत् , आदिनाऽनुग्रह-हेतूपनिपातसंग्रहः; तत्संवित्त्या=तज्जनितसुखदुखानुभूत्या, 'न यात्येव अमूर्तं मूर्ततांम्' इति प्राक्त-

पत्ति हो सकती है । यदि उस का कोई एक ही रूप माना जाता तब वह अनेक कार्यों की जननी न होती । कर्मप्रकृति और आत्मा का एक दूसरे मे अनुप्रवेश होने के कारण कर्मप्रकृति के द्वारा आत्मा का बधन आत्मा के सत्स्वरूप का तिरोधान भी हो सकता है, क्योकि कर्म मे बन्धन स्वभावात्मक परिणाम और आत्मा मे बद्धस्वभावात्मक परिणाम होता है । अतः कर्म को आत्मा का बधन और आत्मा को कर्म का बध्य होने मे कोई बाधा नहीं हो सकती, इसलिये जैन मत मे आत्मा मे ससार और मोक्ष के अभाव का प्रसग नही हो सकता ॥४०॥

## [ मूर्त्त और अमूर्त्त के अन्योन्य अपरिवर्त्तन की आशका ]

४१ वीं कारिका मे कर्म और आत्मा के जैन सम्मत अन्योन्यानुप्रवेश सम्बन्ध मे साख्यवेत्ताओं की यह शंका प्रदर्शित की गई है कि–

जो पदार्थ अमूर्त्त होता है, जिसमे रूप स्पर्शादि का अस्तित्व नहीं होता वह पदार्थ मूर्त नहीं हो सकता । रूप स्पर्श आदि के आश्रयरूप मे उसका परिणाम नहीं हो सकता जैसा कि आकाशादि मे देखा जाता है । यह सर्वमान्य है कि आकाश आदि अमूर्त=रूपस्पर्शादिहीनपदार्थ कभी भी मूर्त रूप-स्पर्शादि से युक्त नहीं होता । इसी प्रकार जो पदार्थ मूर्त होता है, रूपस्पर्शादि से युक्त होता है उसका कभी अमूर्त परिणाम नही होता जैसे मूर्त परमाणु आदि मे अमूर्त परिणाम कभी नहीं होता । इस प्रकार जब यह सिद्ध है कि वस्तु के स्वरूप मे वैपरीत्य नहीं होता तब आत्मा के स्वरूप मे भी वैपरीत्य की सभावना कैसे हो सकती है ? अतः कर्मप्रकृति से आत्मा का बधनादि होना असगत है ॥४१॥

## [ मूर्त्त-अमूर्त्त परिवर्त्तन की उपपत्ति ]

४२ वीं कारिका मे साख्य की पूर्वोक्त शका का उत्तर दिया गया है जो इस प्रकार है–देह मे उपघातक कण्टक आदि का स्पर्श होने पर दुःखकी एवं अनुग्रह हेतुभूत माला चन्दन आदि के स्पर्श से सुखकी अनुभूति होती है, जिससे अमूर्त आत्मा का मूर्त्त होना सिद्ध है । अतः यह कथन कि–'अमूर्त

नानुषङ्गः, इति=एतत् अयुक्तिमत्=अनुभवबाधितम् । 'घटादिसंवित्तिवद् देहस्पर्शादिसंवित्तिरात्मनोऽतन्मयत्वेऽप्युपपत्स्यत' इत्यत आह-इय च=देहस्पर्शादिसंवित्तिश्च अन्योन्यव्याप्तिजा गुड शुण्ठीद्रव्ययोरिव शरीरा ऽऽत्मनोर्जात्यन्तरतापत्तिप्रभवा, प्रतिप्रतिक तदनुभवात् , एकाभावेऽप्यभावाच्च । युक्त चैतत् , अविभागदर्शनात् , नरत्वादेरेकनिष्ठत्वेऽतिप्रसङ्गात्, व्यासज्यवृत्तित्वे च परस्यापसिद्धान्तः, व्यासज्यवृत्तिजात्यनभ्युपगमात् , एकाश्रयत्वानुभवविरोधात् , शरीराऽप्रत्यक्षेप्यन्धकारे नरत्वप्रतीत्यनुपपत्तेश्च । तदिदमाह भगवान् सम्मतिकारः-

'अण्णोण्णाणुगयाणं इमं व तं वत्ति विभयणमजुत्तं ।
जह दुद्ध-पाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ।। [सन्मति० गाथा ४७] ।।

अन्योन्यानुगतयोरात्म-कर्मणोदु ग्ध-पानीययोरिव यावन्तो विशेषपर्यायास्तावत्सु 'इदं वा तद् वा इति' विभजनमयुक्तम् , प्रमाणाभावात् । 'एवं तर्हि ज्ञानादयोऽपि देहे स्युः, देहरूपा-

कभी मूर्त नही होता' अनुभव से बाधित होने के कारण अयुक्त है । यदि यह कहा जाय-'जैसे आत्मा मे घटादिरूपता न होने पर भी उसको घटादि का अनुभव होता है, उसी प्रकार देह स्पर्शादि न होने पर भी देहस्पर्शादि का अनुभव आत्मा को हो सकता हे । अत आत्मा को देहस्पर्शादिमय मानकर अमूर्त्त को मूर्त्त के रूप मे परिणत होने की सिद्धि नही की जा सकती-तो यह ठीक नही है, क्योकि आत्मा को देहस्पर्शादि की अनुभूति होती है वह देह और आत्मा की एक दूसरे मे व्याप्ति होने से ही होती है अत जैसे गुड और सू ठ इन दोनो द्रव्यो का परस्पर मे मिश्रण हो जाने पर ही एक मे दूसरे के धर्म की अनुभूति होती है उसी प्रकार देह और आत्मा का परस्पर मे मिश्रण हो जाने पर ही एक मे दूसरे के धर्म की अनुभूति होती है, देह और आत्मा का परस्पर मे मिश्रण अर्थात् आत्मा मे देह रूपता और देह मे आत्मरूपता होने पर ही आत्मा मे देहस्पर्शादि की अनुभूति हो सकती है ।

### [ सांख्यमत मे देहात्म अविभाग को अनुपपत्ति ]

यह इसलिये मानना आवश्यक है कि दोनो मे दोनो के धर्मों की अनुभूति होती है और एक के अभाव मे दूसरे की अनुभूति नहीं होती और यही युक्तिसंगत भी है--क्योकि देह और आत्मा मे अविभाग देखा जाता है ।

सांख्य मतमे देह और आत्मा का यह अविभाग नहीं उपपन्न हो सकता है क्योकि नरत्व आदि धर्मो को एकमात्रगत मानने पर दूसरे मे उसका अनुभव मानने पर अतिप्रसङ्ग होगा और उभयवृत्ति अर्थात् देह-आत्म उभयगत मानने पर अपसिद्धान्त होगा, क्योकि साख्य मत मे व्यासज्यवृत्ति जाति नही मानी जाती है। नरत्व और आत्मत्व में 'अह नरः' इस प्रकार एकाधिकरणता का अनुभव होता है साख्यमत में इसकी उपपत्ति नही हो सकती । एव अन्धकार में शरीर का प्रत्यक्ष न होने पर भी नरत्व की प्रतीति होती है, सांख्यमत में इसकी भी उपपत्ति नहीं हो सकती । जैनमत मे इन त्रुटियो की सभावना नहीं होती क्योकि देह और आत्मा का अन्योन्य मिश्रण होने के कारण आत्मा में देह धर्म और देह में आत्मधर्म की अनुभूति होने में कोई वाधा नहीं होती । भगवान् सन्मतिकार ने इस बात को 'अण्णोणा०' इस गाथा से स्पष्ट किया है । गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

१ अन्योन्यानुगतयोरिद वा तद् वेति विभजनमयुक्तम् । यथा दुग्धपानीययोर्यावन्तो विशेषपर्यायाः ।

दयोऽप्यात्मनी'ति चेत् ? इष्टापत्तिः । तदाह–

'रूवाइपज्जवा जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।
ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ॥ १ ॥ इति । [सन्मति० ४८]

'गौरोऽहं जानामि' इत्यादिधियस्तथैवोपपत्तेः, रूपादि-ज्ञानादीनामन्योऽन्यानुप्रवेशेन कथञ्चिदेकत्वा-ऽनेकत्व-मूर्तत्वादिसमावेशात् । अत एव दण्डात्मादीनामेकत्वं अनेकत्वं च स्थानाङ्गे व्यवस्थितम् । तदाह–

"²एवं एगे आया, एगे दंडे अ होइ किरिया य ।
करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अविरुद्धा ॥ १ ॥ [सन्मति० ४९]

नन्वेवमन्तर्हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्त्तात्मकमेकं चैतन्यम्, बहिर्बाल कुमार-यौवनाद्यनेका-

( अन्योन्यानुगत मे विभाग की अयुक्तता )

'जो द्रव्य परस्पर में अनुगत होते हैं अर्थात् जिनमें परस्पर तादात्म्य होता है उनमें यह और वह एव ये धर्म इसके और वे धर्म उसके' इस प्रकार का विभाग युक्तिसगत नहीं होता। जैसे दूध और पानी मे जितने ही विशेष पर्याय होते हैं उन्हें दुग्ध पर्याय और जलपर्याय इन दो वर्ग में विभक्त नहीं किया जाता है उसी प्रकार आत्मा और कर्म अन्योन्यानुगत होते हैं अतः उनके पर्यायो को भी देह पर्याय और आत्मपर्याय के रूप में विभक्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार के विभाजन मे कोई प्रमाण नहीं होता।'

इस प्रसग में यह आपत्ति उठाना कि—'ऐसा मानने पर ज्ञान आदि देह के धर्म हो जायेंगे और स्पर्शादि आत्मा के धर्म हो जायेंगे—'यह ठीक नहीं है क्योकि जैन मत में यह बात मान्य ही है जैसा कि 'रूपादिपर्यवा०' आदि गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि- देह के रूप आदि पर्याय एव जीवद्रव्य के पर्याय देह और जीवद्रव्य के अन्योन्य अनुगत होने से जीवकी भवस्थ दशा मे एक दूसरे के धर्म रूप में मान्य है।' ऐसा मानने पर 'गौरोऽह जानामि' इस रूप में देह के धर्म गौररूप और आत्मा के धर्म ज्ञानका एक आश्रय में अनुभव हो सकता है। और यदि देह और आत्मा का अन्योन्यानुवेध-परस्पर तादात्म्य न माना जायगा तो इस अनुभव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। देह और आत्मा मे अन्योन्यानुप्रवेश होने से रूप आदि देह धर्म और ज्ञान आदि आत्मधर्मो मे भी अन्योन्यानुप्रवेश तादात्म्यरूप होता है और उनके धर्म का अनुप्रवेश सामानाधिकरण्य यानी एकाश्रयनिष्ठत्व रूप होता है। अन्योन्यानुप्रवेश के कारण ही एक वस्तु में एकत्व अनेकत्व तथा मूर्तत्व अमूर्तत्व आदि धर्मों का कथञ्चित् समावेश होता है। इसलिए ठाणांगसूत्र में भी आत्मा और दण्ड आदि में एकत्व और अनेकत्व का समावेश बताया गया है। जैसा कि "एवं एगे आया०" इस सम्मति सूत्र से भी स्पष्ट होता है। सूत्र का अर्थ यह है कि आत्मा स्वरूपदृष्टि से एक होता है और दण्ड तथा क्रियाभी सामान्य की दृष्टि से एक होता है किन्तु करण विशेष से तीन प्रकार के योग की सिद्धि में कोई विरोध नहीं होता इसलिये एक ही आत्मा और दण्ड आदि त्रितयात्मक हो जाता है।

१ रूपादिपर्यवा ये देह जीवद्रव्ये शुद्धे । तेऽन्योन्यानुगताः प्रज्ञापनीया भवस्थे ॥
२ एवमेक आत्मा एको दण्डश्च भवति क्रियाऽपि । करणविशेषेण च त्रिविधयोगसिद्धिरप्यविरुद्धा ॥

वस्थात्मकमेकशरीरमध्यक्षतः संवेद्यत इत्यस्य विरोधः, बाह्या-ऽभ्यन्तरविभागाभावादि'ति चेत् ? सत्यम्, आत्मभिन्नत्वाभ्यां तद्व्यपदेशाद् । तदाह–

[1]'ण य बाहिरओ भावो अब्भंतरओ अ अत्थि समयम्मि ।
णोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भंतरविसेसो ॥ [सन्मति ५०]

सर्वस्यैव मूर्ताऽमूर्तादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकत्वात् 'अयं बाह्यः, अयं चाभ्यन्तरः' इति समये न वास्तवो विभागः । अभ्यन्तर इति व्यपदेशस्तु नोइन्द्रियं मनः प्रतीत्य, तस्याऽऽत्मपरिणतिरूपस्य पराऽप्रत्यक्षत्वात्, शरीर-वाचोरिव । न च तद्वदेव तस्य परप्रत्यक्षत्वापत्तिः, इन्द्रियज्ञानस्याशेषपदार्थस्वरूपग्राहकत्वाऽयोगात् । एवं च स्याद्वादोक्तिरेव युक्ता न तु परस्परनिरपेक्षनयोक्तिर्विना श्रोतृधीपरिकर्मणानिमित्तम्, वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वात् । तदाह—

( विवर्त्तों के बाह्याभ्यन्तरविभाग अनुपपत्ति की आशंका )

देह और आत्मा मे अन्योन्यानुवेध मानने पर यह शङ्का हो सकती है कि- 'हर्ष विषादादि अनेक आभ्यन्तर विवर्त्तो से अभिन्न एक चैतन्य है, और बाल्य-कौमार्य, यौवनादि अनेकविधावस्थाओ से अभिन्न एक शरीर है यह जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है वह नहीं हो सकेगा। क्योकि देह और आत्मा एव उनके विवर्त्त और अवस्थाओ मे अन्योन्यानुवेध मानने पर बाह्य और आभ्यन्तर का विभाग नहीं हो सकता ।' किन्तु यह शका केवल आपाततः उचित हो सकती है, क्योकि आत्मा के भेदाऽभेद के कारण चैतन्यस्वरूप आत्मा के उक्त विवर्त्त और देह की उक्तावस्थाओ मे बाह्य और आभ्यन्तर के अनुभाग न होने पर भी मनोग्राह्यत्व और मनोग्राह्यत्वाभाव रूप से बाह्याभ्यन्तर का व्यवहार हो सकता है । कहने का आशय यह है कि देह और आत्मा के अन्योन्यानुवेध होने से आत्मधर्म भी देहगत होने से बाह्य और देहधर्म आत्मगत होने से आभ्यन्तर हो जाते हैं । अतः देह और आत्मधर्म को बाह्य और आभ्यन्तररूप मे विभक्त नही किया जा सकता । किन्तु हर्ष-विषादादि चैतन्य के विवर्तों का मानसज्ञान होता है और देह की बाल कौमारादि अवस्थाओ का मानसज्ञान नही होता । अत एव मानसत्वरूप से उनका विभाग हो सकता है । और उस विभाग के आधार पर चैतन्य और देह के उक्त प्रत्यक्षानुभव की उपपत्ति भी हो सकती है । जैसा कि--'ण य बाहिरओ०' इस गाथा मे स्पष्ट किया गया है । गाथा का अर्थ यह है कि जैन प्रवचन मे देह और आत्मा के भावो का बाह्य और आभ्यन्तर इस प्रकार भेद नहीं होता है किन्तु नोइन्द्रिय-मनसे होने वाली प्रतीति और अप्रतीति के आधार पर उनमे भी बाह्य और आभ्यन्तर का व्यवहार होता है । जैन मत में सभी वस्तु मूर्त्त और अमूर्त्त आदि रूपसे अनेकान्त स्वरूप है । यह बाह्य भाव है, यह आभ्यन्तर भाव है–यह भावो का विभाग केवल प्रवचन का विषय है, वास्तव नहीं है । हर्षविषादादि आत्मधर्मो में जो आभ्यन्तर का व्यवहार होता है वह उनकी मनोग्राह्यता के कारण होता है । वे धर्म आत्मा के परिणाम रूप होने से शरीर और वाणी की तरह दूसरे को प्रत्यक्ष नहीं होते । दूसरो को उनका प्रत्यक्ष न होना ही उन्हे बाह्य व्यवहार से वंचित कर आभ्यन्तर व्यवहार का पात्र बना देता हैं । शरीर और वाणी के समान हर्ष-विषादादि मे परप्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती है–क्योंकि परप्रत्यक्ष इन्द्रिय से होता है

१ न च बाह्यको भावोऽभ्यन्तरकश्चास्ति समये । नोइन्द्रियं पुनः प्रतीत्य भवत्यभ्यन्तरविशेष. ॥

'दव्वट्ठियस्स आया बंधइ कम्मं फलं च वेएइ ।
बिइयस्स भावमेत्तं ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥ [सं० ५१]
दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयए नियमा ।
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ [सं०-५२]
जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु ।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा ॥ [सं०-५३]
पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पण्णविज्ज अण्णयरं ।
परिकम्मणानिमित्तं दाएही सो विसेसंपि ॥ [सं०-५४]
तस्माद् देहात्मनोऽन्योन्यव्याप्त्यैव देहस्पर्शादिसंवित्तिरिति सिद्धम् ।
इति हेतोः, बन्धादि संगतं=युक्तम् कार्यान्यथानुपपत्तेः ॥४२॥

और इन्द्रियजन्यज्ञान अशेषपदार्थ का ग्राहक नहीं होता है। इस प्रकार स्याद्वाद का मत ही युक्ति संगत है। जो कथन परस्पर निरपेक्ष नयमूलक होता है वह श्रोता की बुद्धि को व्युत्पत्त्याधान रूप निमित्त के बिना ग्राह्य नहीं हो सकता। क्योंकि वस्तु अनेकान्तिक होती है और नय एकान्तदृष्टि-रूप होता है अतः वह अन्यनय से निरपेक्ष होकर वस्तु के यथार्थस्वरूप को प्रस्तुत नहीं कर सकता। जैसा कि 'दव्वट्ठिअस्स०' आदि कारिकाओं मे स्पष्ट है।

कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार है—द्रव्यास्तिक नय की दृष्टि से आत्मा कर्मबन्ध को उत्पन्न करता है और उसके फल का अनुभव भी करता है किन्तु पर्यायास्तिक नय की दृष्टि से आत्मा भावमात्र होता है वह अल्पकालिक होने से न चिरस्थायी कर्मबन्ध को उत्पन्न करता है न वही उसके फल का अनुभव करता है। द्रव्यास्तिक नय की दृष्टि से जो कर्म करता है नियम से वही फल का भोक्ता होता है, किन्तु पर्यायास्तिक नय की दृष्टि से कर्म करने वाला आत्मा दूसरा होता है और फल का भोक्ता दूसरा होता है क्योंकि कर्मकाल का आदिमपर्याय भोगकाल मे नहीं रहता इसीलिये पर्यायभेद से आत्मभेद हो जाता है।

द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दोनों का आश्रय लेकर जो विकल्पवचन कहे जाते हैं उससे अपने सम्यक् प्रवचन का परिज्ञापन होता है, तीर्थंकर का अवमान नहीं होता। उपदेष्टा को उपदेश्य पुरुष के प्रति उपर्युक्त नयो मे किसी भी नय के आधार पर वस्तु के स्वरूप का ज्ञापन करना

१ द्रव्यास्तिकस्याऽऽत्मा बध्नाति कर्म फलं च वेदयति ।
द्वितीयस्य भावमात्रं, न करोति न च कोऽपि वेदयति ॥५१॥
द्रव्यास्तिकस्य य एव करोति स एव वेदयति नियमात् । अन्यः करोत्यन्यः परिभुङ्क्ते पर्यवनयस्य ॥५२॥
ये वचनीयविकल्पा संयुज्यमानयोर्भवन्त्येतयोः । सा स्वसमयप्रज्ञापना तीर्थंकराशातनाऽन्या ॥५३॥
पुरुषजातं तु प्रतीत्य ज्ञायकः प्रज्ञापयेदन्यतरत् । परिकर्मणानिमित्तं दर्शयेत् स विशेषमपि ॥५४॥

न च सहचारमात्रदर्शनादुक्तनियमोऽपीत्याह–

मूलम्–मूर्तयाऽप्यात्मनो योगो घटेन नभसो यथा ।
उपघातादिभावश्च ज्ञानस्येव सुरादिना ॥४३॥

मूर्तयापि=प्रकृत्या आत्मनो योगः 'संभवति' इति शेषः । दृष्टान्तमाह-यथा घटेन नभसः । 'घटेन संयुक्तमपि नभो न घटस्वभावतां यातीति न दोष' इति चेत् ? स संयोगः किं घटस्वभावः, नभःस्वभावः, उभयस्वभावः, अनुभयस्वभावो वा ? आद्ययोरुभयनिरूप्यत्वानुपपत्तिः । तृतीये च वदतो व्याघातः, घटस्वभावसंयोगवत्तया नभसो घटस्वभावत्वात् । चतुर्थे त्वनुपाख्यत्वापत्तिः, इति न किञ्चिदेतत् ।

चाहिये किन्तु उत्पादनीय ज्ञान मे सम्यक्त्व का संपादन करने के लिये उसे विशेष-अन्यनय सम्मत बात का भी उपदेश करना चाहिये ।

इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि आत्मा को देह स्पर्शादि की अनुभूति देह और आत्मा की अन्योन्यव्याप्ति-एक मे दूसरे के अनुप्रवेश से ही होती है । अतः कार्य की प्रकारान्तर से उपपत्ति न होने के कारण जैनशास्त्रोक्त प्रकार से ही आत्मा मे बन्ध और मोक्ष का होना युक्तिसगत है ।

## (मूर्त्त और अमूर्त्त के सम्बन्ध की उपपत्ति)

४३ वीं कारिका मे यह बताया गया है कि-'दो वस्तुओ के केवल सहचारमात्र से उनके धर्मों की एक दूसरे मे अनुभूति का नियम नहीं बन सकता । किन्तु उसके लिये वस्तुओ का अन्योन्यात्मकत्व आवश्यक है–

कारिका का अर्थ इस प्रकार है-अमूर्त आत्मा का भी मूर्त प्रकृति के साथ सम्बन्ध हो सकता है, जैसे अमूर्त आकाश का घटके साथ । यदि कहा जाय कि-'आकाश घट से सयुक्त होकर भी घटस्वभाव नहीं होता इसलिये उनका सम्बन्ध तो बुद्धिगम्य है किन्तु प्रकृति और आत्मा का सम्बन्ध तो आप ऐसा मानते हैं जिस से आत्मा प्रकृतिस्वभाव बन जाता है । अत प्रकृति और आत्मा के बीच अभिमत सम्बन्ध के अनुकूल यह दृष्टान्त नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं हैं क्योकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक मे पूर्णतया साम्य नही अपेक्षित होता । अत प्रकृति और आत्मा मे घट और आकाश का पूर्ण साम्य न होने पर भी 'मूर्त के साथ अमूर्त का सम्बन्ध सभव है' इस बात को अवगत कराने के लिये तो यह दृष्टान्त हो ही सकता है । घट आकाश के सयोग से जो आकाश को घटस्वभावता या घट को आकाशस्वभावता नहीं होती उसका कारण यह है कि उन दोनो का संयोग इसके लिये समर्थ नहीं है, जैसे घटाकाश सयोग के सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठता है कि वह सयोग घटस्वभाव है या आकाशस्वभाव है अथवा घट-आकाश उभय स्वभाव हैं किं वा अनुभय स्वभाव है ? पहले दो पक्ष मान्य नही हो सकते क्योकि उन पक्षो मे वह सयोग घट-आकाश उभय से निरूप्य न हो सकेगा, क्योकि घटस्वभाव आकाश से और आकाशस्वभाव घट से निरूप्य नहीं होता । और तृतीय पक्ष तो कथन मात्र से ही व्याहत हो जाता है, क्योकि यदि वह सयोग उभय स्वभाव होगा तो आकाश मे घटस्वभावात्मक सयोग रहने से आकाश घट स्वभाव हो जायगा फिर घटाकाश के अभिन्न हो जाने से उभय का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होगा । अतः सयोग को उभय स्वभाव कहना उपपन्न न हो

'अस्तु तर्हि नभसो घटादिनेव कर्मणा जीवस्य संबन्धः, ततोऽनुग्रहोपघातौ तु तस्य नभसदेव न' इत्यत आह-उपघातादिभावश्च=उपघाताऽनुग्रहभावश्च मूर्तायाः अपि कर्मप्रकृतेः सकाशात् सुरादिना=सुरा ब्राह्मी-घृतादिना ज्ञानस्येव युक्तः, अङ्गाऽङ्गिभावलक्षणसंबन्धप्रयोज्यत्वात् तस्येति भावः।

ननु 'सर्वमिदमात्मनोऽविभुत्वे सम्भवति, तदेव चाद्यापि न सिद्धिमि'ति चेत् ? न; शरीरनियतपरिमाणवत्त्वेनैवाऽऽत्मनोऽनुभवात्, मूर्त्तत्वसंशयस्य ज्ञानप्रामाण्यसंशयादिनोपपत्तेः। न च द्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने हेतोर्महत्त्वस्याऽऽत्मनि सिद्धौ तस्यावयवमहत्त्वाद्यजन्यत्वेन नित्यत्वे 'आत्मा विभुः, नित्यमहत्त्वात्, आकाशवत्' इत्यनुमानात् तस्य विभुत्वमेव युक्तमिति वाच्यम्; नित्यमहत्त्वेऽप्यपकृष्टपरिमाणवत्त्वे बाधकाभावेनाऽप्रयोजकत्वात्। 'अपकृष्टत्वे तस्य

---

सकेगा। चौथा पक्ष भी ग्राह्य न हो सकेगा, क्योंकि घट और आकाश का सयोग यदि घटस्वभाव एव आकाश स्वभाव न होगा तो उस मे किसी अन्य स्वभाव होने की कल्पना भी शक्य न होने के कारण वह असत् हो जायगा।

इस प्रसङ्ग मे शङ्का हो सकती है कि-जैसे घटादि के साथ आकाश का सम्बन्ध होने पर भी घटादि के अनुग्रह और उपघात का आकाश मे कोई प्रभाव नहीं होता उसी प्रकार कर्मप्रकृति से जीव का सम्बन्ध होने पर भी उससे आत्मा मे कोई अनुग्रह एव उपघात नहीं होना चाहिये'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कर्मप्रकृति के मूर्त्त होने पर भी उस मे उपघात और अनुग्रह होता है इसलिये उसके सम्बन्ध से आत्मा मे उपघात और अनुग्रह हो सकता है। इसको समझने के लिये मद्यादि का दृष्टान्त उपादेय है। आशय यह है कि जैसे मनुष्य मे मद्य-एव ब्राह्मी घृत आदि के सम्पर्क मे उस का ज्ञान मद्य और घृत के दोष और गुणो से विकृत और सस्कृत होता है उस प्रकार कर्मप्रकृति के सम्बन्ध से आत्मा भी उस के उपघात और अनुग्रह से उपहृत और अनुगृहीत हो सकता है। यह उपघात और अनुग्रह प्रकृति और आत्मा मे अङ्गाङ्गीभावरूप सम्बन्ध के नाते होता है और मूल प्रकृति उस का अङ्ग होती है। घटादि और आकाश मे अङ्गाङ्गी भाव सम्बन्ध नहीं होता। अतः घटादि के उपघात और अनुग्रह से आकाश मे उपघात और अनुग्रह नहीं होता। ऐसा मानने पर शङ्का हो सकती है कि-' यह बात तभी युक्तिसङ्गत हो सकती है जब आत्मा को अविभु माना जाय, किन्तु अविभुत्व उस में सिद्ध नहीं होता अतः मूल प्रकृति और आत्मा के बीच विवक्षित सम्बन्ध नहीं हो सकता' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा मे शरीर के समानपरिमाणता का अनुभव होता है। इसलिये आत्मा का अविभुत्व अनुभवसिद्ध है। इस अनुभव के होने पर भी जो कभी किसी को आत्मा के मूर्त्तत्व विषय में सन्देह होता है वह इस अनुभव मे प्रामाण्य का सन्देह होने के कारण होता है। वस्तुत उस मे कोई मूर्त्तत्व का सशयापादक धर्म नहीं है।

### [आत्मविभुत्व की शंका का परिहार]

शङ्का हो सकती है कि-'द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व कारण होता है अतः आत्मा के प्रत्यक्ष के अनुरोध से उस मे भी महत्त्व मानना होगा। और वह महत्त्व अवयवगत महत्त्वादि से उत्पन्न न होने के कारण नित्य होगा। अतः नित्य महत्त्व से आत्मा मे विभुत्व का इस प्रकार अनुमान हो जायगा

जन्यत्वापत्तिर्बाधिका, गगनमहत्त्वावधिकापकर्षस्य बहुत्वजन्यतावच्छेदकत्वादि'ति चेत् ? न, परमाणुपरिमाणसाधारणतयाऽस्य कार्यताऽनवच्छेदकत्वात् , त्रुटिमहत्त्वावधिकोत्कर्षेण' समं सांकर्यात् तादृशजात्यसिद्धेश्च, वस्तुतः प्रदीपप्रभाया इवात्मनः संकोच विकाशाभ्यां परिमाण-भेदस्याऽभ्युपगमेन सवथा नित्यमहत्त्वाऽसिद्धेश्च ।

कथं चात्मनो विभुत्वे स्वस्मिन् क्रियादिप्रतीतिः, तीर्थगमनादेरदृष्टहेतुत्वश्रवणादिकं चोपपादनीयम् ? । कथं वात्मनः सर्वगतत्वात् स्वशरीरादन्यत्रापि न ज्ञानाद्युत्पादः ? 'शरीरा-

---

कि-आत्मा विभु है क्योकि वह नित्य महत्त्व का आश्रय है। जो नित्य महत्त्व का आश्रय है वह विभु होता है जैसे आकाश ।-'अत' आत्मा को विभु मानना ही युक्त है। और इसी कारण आत्मा मे शरीर के समानपरिमाणता का अनुभव भ्रम है। भ्रम से विषय की सिद्धि नही होती अत आत्मा का मूर्त्तत्व असभव है-' किन्तु यह शङ्का ठीक नही है क्योकि आत्मा मे नित्य महत्त्व होने पर भी उस मे अपकृष्ट परिमाण मानने मे कोई बाधा न होने से नित्य महत्त्व से विभुत्व का अनुमान अप्रयोजक है। 'आत्मा के परिमाण को अपकृष्ट मानने पर उसे जन्य मानना होगा, क्योकि गगन के महत्त्व से अपकृष्ट परिमाण अवयवगत बहुत्व से जन्य होते हैं' यह नहीं कहा जा सकता क्योकि आकाश के महत्त्व से अपकृष्ट परमाणु के परिमाण मे अवयवगत बहुत्व के जन्यत्व का व्यभिचार है। और आकाशगत महत्त्व से घटादिगत महत्त्व मे जो अपकर्ष होता है उसे जातिस्वरूप न मान सकने के कारण वह आकाशगत महत्त्व से अपकृष्ट सभी परिमाणो मे अवयव बहुत्व की जन्यता का अवच्छेदक नही हो सकता। उक्त अपकर्ष को जातिस्वरूप इसलिये भी नहीं माना जा सकता कि-उस मे त्र्यणुकगत महत्त्वावधिक उत्कर्ष के साथ सांकर्य हो जाता है। जैसे त्र्यणुकगत महत्त्वावधिक उत्कर्ष आकाश परिमाण मे है किन्तु उस मे आकाशगत महत्वावधिक अपकर्ष नही है। एव यह अपकर्ष परमाणु और द्व्यणुक के परिमाण मे है किन्तु उस मे त्र्यणुक महत्त्वावधिक उत्कर्ष नहीं है और घटादि मे त्र्यणुक महत्त्वावधिक उत्कर्ष और आकाशमहत्वावधिक अपकर्ष दोनो विद्यमान है। अतः सांकर्य होने के कारण उक्त अपकर्ष के जातिरूप न हो सकने से उसे अवयवगत बहुत्व की जन्यता का अवच्छेदक मानना असभव है। और सच बात तो यह है कि आत्मा का महत्त्व एकान्तरूप से नित्य हो भी नहीं सकता क्योकि आत्मा प्रदीप की प्रभा के समान संकोच-विकाशशील है अतः उसका परिणाम परिवर्त्तित होता रहता हैं। और परिवर्त्तित होनेवाली वस्तु एकान्तनित्य हो नही सकती।

आत्मा को विभु मानने मे बाधक भी है और वह है आत्मा मे क्रियादि की प्रतीति, जो आत्मा को विभु मानने पर नहीं उपपन्न हो सकती। इस के अतिरिक्त तीर्थगमनादि मे शास्त्र जो पुण्यजनकता का प्रतिपादन करता है उस की भी उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योकि विभु का तीर्थगमन कैसे हो सकता है ? आत्मा अपने शरीर को छोड कर अन्य द्रव्य मे ज्ञानादिमान् नहीं होता। किन्तु यदि उसे सर्वगत माना जायगा तो यह बात न बन सकेगी क्योकि जैसे अपने शरीर के साथ उसका सम्बन्ध होता है उसी प्रकार अन्य द्रव्यो के साथ भी उसका सम्बन्ध होता है।

यदि यह कहा जाय कि-'ज्ञानादि के प्रति शरीर कारण होता है अत शरीर भिन्न द्रव्य मे आत्मा ज्ञानादिमान् नहीं होता'-तो यह ठीक नही है, क्योकि ऐसा मानने पर भी आत्मा को अन्य शरीर मे

भावादि'ति चेत्? न, अन्यशरीरस्य सत्त्वात्। 'स्वशरीराभावादिति' चेत्? न, स्वसंयुक्तत्वेन तस्याऽपि स्वीयत्वात्। 'स्वादृष्टोपगृहीतशरीराभावादि' ति चेत्? तर्हि उपजीव्यत्वात् अदृष्टस्यैव तद्ज्ञानादिहेतुत्वात् तस्य शरीरव्यापितयाऽऽत्मनस्तथात्वसिद्धिः। तदुक्तम्- ※"यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र०"? इत्यादि। अपि च, आत्मविभुत्ववादे ज्ञानादीनामव्याप्यवृत्तित्वादिकल्पने गौरवमिति न किञ्चिदेतत्। अधिकं न्यायालोकादौ ॥४३॥

उपसंहरन्नाह—

एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥४४॥

ज्ञानादिमान् होने की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि-'तत्तद् आत्मा के ज्ञानादि मे तत्तद् आत्मा का ही शरीर कारण है'- तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के विभु होने से सभी शरीरो मे उसका सम्बन्ध होने के कारण शरीर का तत्तद् आत्मा के स्वशरीर और पर शरीर के रूप मे विभाग नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि-'स्वशरीर का अर्थ है स्व के अदृष्ट से प्राप्त शरीर और परशरीर का अर्थ है स्व के अदृष्ट से अप्राप्त शरीर, इस रूप मे विभु आत्मा का भी शरीरविभाग हो सकता है' तो यह भी ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर अदृष्ट शरीर के विभाग' का उपजीव्य होने के कारण तत्तद् आत्मा के अदृष्ट को ही तत्तद् आत्मा के ज्ञानादि का कारण मानना उचित होगा। और उस अदृष्ट एक शरीर मात्र मे ही व्याप्त होने के कारण आत्मा का भी एक शरीर मात्र मे ही व्याप्त होना उचित होगा। अतः आत्मा शरीर का समपरिमाण हो सकता है, विभु नहीं हो सकता। पू हेमचन्द्राचार्य महाराज ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका स्तुतिमे "यत्रैव यो दृष्टगुण' इस कारिका से इस बात का समर्थन करते हुए कहा है कि-'जितने देश मे जिसका गुण देखा जाता है उतने देश मे ही उस का अस्तित्व होता है। उससे अतिरिक्त देश मे उस का अस्तित्व मानने मे कोई युक्ति नहीं होती"। इस के अतिरिक्त आत्मा के विभुत्व पक्ष मे यह भी दोष है कि यदि आत्मा विभु होगा तो उसके ज्ञानादि मे अव्याप्यवृत्तित्व की कल्पना करनी होगी। क्योंकि विभु आत्मा के पूरे भाग मे ज्ञानादि की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। और यदि मानी जायगी तो आत्मा से सम्बद्ध समस्त द्रव्यो मे उसके फलाऽफल की आपत्ति होगी। अत. आत्मा के विभुत्व के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जाता है वह सब नगण्य है। इस विषय का विस्तृत विचार न्यायालोक आदि ग्रन्थों मे द्रष्टव्य है ॥४३॥

(प्रकृतिवाद की सापेक्ष सत्यता का अनुमोदन)

प्रस्तुत विचार का उपसहार करते हुए ४४ वीं कारिका मे यह बताया गया है कि आर्हतो की अनेकांत दृष्टि से विचार करने पर सांख्य का प्रकृतिवाद भी सत्य सिद्ध होता है, मिथ्या नहीं। वह मिथ्या हो भी नहीं सकता क्योंकि द्रव्यार्थिक नय का अवलंबन कर कपिल मुनि ने प्रकृतिवाद के

※ 'कुम्भादिवन्निष्प्रतिक्षमेतत्। तथापि देहाद्बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति॥' इति शेषपादत्रय हेमचन्द्राचार्यविरचितायामन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाया श्लो. ६।

एवम् उक्तप्रकारेण, हि=निश्चितम्, प्रकृतिवादोऽपि सत्य एव विज्ञेयः नानृतः, उपपत्त्यन्तरमाह-कपिलोक्तत्वतश्चैव=द्रव्यार्थिकनयावलम्बिकपिलप्रणीतत्वाच्चैव । तेनाऽनृत एवायं वाद उक्तो भविष्यतीत्यत आह-हि=यतः स महामुनिः दिव्यः=अद्भुतशीलाचरणशाली, अतो नानृतं ब्रूयात्, इति तस्याऽप्ययमेवाऽभिप्राय इति भावः ॥४४॥

सांख्य ! सख्यमिदमेव केवलं मन्यसे प्रकृतिजन्म यज्जगत् ।
आत्मनस्तु भणितौ विधर्मणः संख्यमेव भजदेवमावयोः ॥१॥
आत्मानं भवभोगयोगसुभगं विस्पष्टमाचष्ट यो
यः कर्मप्रकृतिं जगाद जगतां बीजं जगच्छर्मणे ।
नद्योऽब्धाविव दर्शनानि निखिलान्यायान्ति यद्दर्शने
तं देवं शरणं भजन्तु भविनः स्याद्वादविद्यानिधिम् ॥२॥

इति पण्डित श्री पद्मविजयसोदरन्यायविशारदपण्डितयशोविजयविरचितायां स्याद्वादकल्पलताभिधानायां शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायां तृतीयः स्तवकः संपूर्णः ॥

अभिप्रायः सूरेरिह हि गहनो दर्शनततिर्निरस्या दुर्धर्षा निजमतसमाधानविधिना ।
तथाप्यन्तः श्रीमन्नयविजयविज्ञांह्रिभजने । न भग्ना चेद्भक्तिर्न नियतमसाध्यं किमपि मे ॥१॥

यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशया
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदर-
स्तेन न्यायविशारदेन रचिते ग्रन्थे मतिर्दीयताम् ॥२॥

---

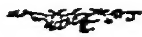
समर्थक साख्य शास्त्र की रचना की है। कपिल एक महान् मुनि है और अद्भुत शील और आचरण से सपन्न है अतः वे मिथ्या नही कह सकते। इसलिए प्रकृतिवाद के सवन्ध मे उन्हो ने जो कुछ कहा है उसका भी वही अभि ाय मानना चाहिए जो कर्मप्रकृतिवादी आर्हत महर्षियो का है।

व्याख्याकार पू उपा. यशोविजयजी ने इस विचार का यह कहते हुए उपसहार किया है कि-सांख्य से उनकी मित्रता केवल इस कारण है कि सांख्य भी उन्हीं के समान जगत् को प्रकृतिजन्य मानता है। किन्तु आत्मा के सवन्ध मे उसने जो यह कहा है कि आत्मा निर्धर्मक होता है। उस विषय मे उसके साथ हमारा वैचारिक सग्राम सदा चलता रहेगा ॥१॥ व्याख्याकार ने इस विचार के पर्यवसान में अपनी यह आकांक्षा प्रकट की है कि जिस देव ने आत्मा को अत्यत स्पष्ट रूप में सासारिक भोग के याग्य दताया है और जिस देव ने जीवमात्र के कल्याण मार्ग के उद्घाटनार्थ कर्मप्रकृति को जगत् का बीज दताया है एवं जिसके दर्शन में समुद्र मे नदीयो के समान अन्य सभी दर्शन समाविष्ट हो जाते हैं-स्याद्वाद विद्या के महान् आश्रय उस देव की ही शरण में ससार के भव्य मनुष्य को उपस्थित होना चाहिये ॥२॥

अभिप्रायः० — · ··इनकी व्याख्या पहले स्तवक में आ गयी है।

तृतीय ...

# परिशिष्ट १-तृतीयस्तवकश्लोकाकारादिक्रमः




| श्लो०/पृ० | श्लोकांश |
|---|---|
| ३/७ | अज्ञो जन्तुरनीशोय |
| ३६/१२१ | अत्रापि पुरुषस्यान्ये |
| २१/९८ | अन्ये तु ब्रुवते |
| ४/३४ | अन्ये त्वभिदधत्यत्र |
| १६/८५ | अभिप्रायस्ततस्तेषा |
| ३४/११७ | आत्मा न बध्यते |
| ८/३८ | आदिसर्गेऽपि नो हेतु |
| १७/८६ | आर्षं च धर्मशास्त्र च |
| ११/८१ | ईश्वरः परमात्मैव |
| १/२ | ,, प्रेरकत्वेन |
| १५/११८ | एकान्तेनैकरूपाया |
| ३४/१२२ | एवं प्रकृतिवादोऽपि |
| १३/८३ | कर्त्ताऽयमिति तद्वाक्ये |
| ६/३६ | कर्मादेस्तत्स्वभावत्वे |
| २५/१०३ | घटाद्यपि कुलालादि |
| २०/९७ | घटाद्यपि पृथिव्यादि |
| २/५ | ज्ञानमप्रतिघं यस्य |
| १०/८० | ततश्चेश्वरकर्तृत्व |
| २६/१०४ | तत्रापि देहकर्ता चेद् |
| १२/८२ | तदनासेवनादेव |
| ४०/१२३ | तस्याश्चानेकरूपत्वाद् |
| २३/१०० | तस्यैव तत्स्वभावत्वाद् |
| २७/१०४ | देहभोगेन नैवास्य |
| ४२/१२४ | देहस्पर्शादिसंवित्त्या |
| ३२/११३ | देहात्पृथक्त्वे एवास्य |
| ३१/११२ | न च पूर्वस्वभावत्वात् |
| ५/३५ | नरकादिफले काश्चित् |
| २४/१०२ | नानुपादानमन्यस्य |
| ४१/१२४ | नामूर्तं मूर्ततां याति |
| ३७/१२० | पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो |
| १४/८४ | परमैश्वर्ययुक्तत्वाद् |
| ३८/१२० | पुरुषस्योदिता मुक्तिरिति |
| २८/१०६ | पुरुषोऽविकृतात्मैव |
| ३०/१०७ | प्रतिबिम्बोदयोऽप्यस्य |
| १९/९७ | प्रधानान्महतो भावो |
| १८/८८ | प्रधानोद्भवमन्ये तु |
| ७/३७ | फलं ददाति चेत् सर्वं |
| ३३/११६ | बन्धादृते न संसारो |
| ४३/१२६ | मूर्त्तयाप्यात्मनो |
| ३६/११६ | मोक्षः प्रकृत्ययोगो |
| २२/९८ | युक्त्या तु बाध्यते |
| २९/१०७ | विभक्तेदृक्परिणतौ |
| १५/८५ | शास्त्रकारा महात्मान |
| ६/३६ | स्वयमेव प्रवर्त्तन्ते |


---

# परिशिष्ट २–तृतीयस्तवकटीकायामुद्धृतवाक्यांशाकारादिक्रमः


| पृष्ठांक | वाक्यांश | |
|---|---|---|
| १२४ | अण्णोण्णाणुगयाण इम | [सन्मति-४७] |
| ४ | अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां० | [योगसूत्र २-४] |
| ६० | असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः | [ ] |
| ८६ | असदकरणाद् | [साङ्ख्यकारिका-९] |
| ५६ | आकाशशरीरं ब्रह्म | [ |
| २० | आत्मैवेदं सर्वं | [छान्दोग्यउपनिषद् ७-२५-२] |
| | | [नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद् ७-३] |

| पृष्ठांक | | |
|---|---|---|
| ८४ | उत्तम पुरुषस्त्वन्य | [गीता १५-१७] |
| ७० | एतस्य चाक्षरस्य० | [बृहदारण्यक० ३-८-६] |
| १२६ | एवं एगे आया | [सन्मति०-४६] |
| ७ | कार्याऽऽयोजनधृत्यादेः | [न्यायकुसुमाञ्जलि ५-१] |
| ४ | क्लेशकर्मविपाका० | [योगसूत्र १—२३] |
| ५६ | ज जहा भगवया० | [ |
| १२८ | जे वयणिज्जवियप्पा | [सन्मतिसूत्र-५३] |
| १०७ | ण य वाहिरओ भावो० | [सन्मतिसूत्र-५०] |
| ३० | तरति मृत्यु | [ |
| ११८ | तस्मान्न बध्यते नापि | [सांख्यकारिका-६२] |
| १२७ | दव्वट्ठियस्य आया | [सन्मतिसूत्र-५१] |
| ,, | ,, जो चेव | [ ,, -५२] |
| ३ | दश मन्वन्तराणीह | [ |
| ५६ | नित्यं विज्ञान | [ |
| ६३ | निरालम्बा निराधारा | [योगशास्त्र ४-६८] |
| ६६ | प्रकृतेर्महांस्ततो | [सांख्यकारिका-२२] |
| १२८ | पुरिसज्जाय तु पडुच्च० | [सन्मतिसूत्र-५४] |
| ३ | पूर्णं शतसहस्रं तु | [ |
| ३ | बौद्धाः शतसहस्राणि | [ |
| ८६ | भेदानां परिणामात् | [सांख्यकारिका-१५] |
| ७ | मयाध्यक्षेण प्रकृति. | [गीता ९-१०] |
| ६६ | मूलप्रकृतिरविकृतिः | [सांख्यकारिका-३] |
| ३३ | यज्ञो वै विष्णु | [ |
| १३२ | यत्रैव यो दृष्टगुण | [अन्य०व्य०द्वा०-६] |
| ३३ | यन्न दुखेन सभिन्नं | [ |
| १२६ | रूवाइपज्जवा जे देहे | [सन्मति० ४८] |
| ५१ | स तपोऽतप्यत | [ |
| ५६ | समालोक्य क्षुद्रेष्वपि | [ |
| ७७ | सर्वज्ञता तृप्ति० | [ |
| ५६ | सर्वभावेषु कर्तृत्व | [वीतरागस्तोत्र ७-७] |
| १०७ | सामा उ दिया छाया | [निशीथभाष्य, प्रज्ञापना-मलयगिरिटीका] |
| ७६ | हेत्वभावे फलाभावात् | [न्या०कु०३-१८] |

# तृतीयस्तबके शुद्धिपत्रकम्



| पत्र/पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|
| ४/२ | योगत्र (२-४) | योगसूत्र (१-२३) |
| ८/२१ | क्योंकि | क्योंकि |
| ९/५ | था | था। |
| ९/३४ | द्वारा | द्वारा |
| १७/१६ | सष्टि | सृष्टि |
| १६/१७ | जसे | जैसे |
| २१/१८ | उन्ह | उन्हें |
| २०/१४ | इश्वर | ईश्वर |
| ३३/२० | निरुपण | निरूपण |
| ३१/२८ | याजन | योजन |
| ४६/५ | नित्याऽव्यापि० | नित्याऽव्यापि |
| ५३/२ | ईश्वरेच्छत्र | ईश्वरेच्छैव |
| ५४/४ | तत्तकारण | तत्तत्कारण |
| ५५/१ | वच्छिन्नद्ध० | वच्छिन्नतद्ध० |
| ५५/८ | ०लाऽकारणनि० | ०लाऽऽकारनि० |
| ५४/२६ | नुमति | अनुमति |
| ५६/३१ | उसकती | सकती |
| ५६/३१ | क्त कर्म | उक्तकर्म |
| ६५/२२ | इश्वर | ईश्वर |
| ६९/२७ | सो जैसे | जैसे |
| ७१/१६ | के नहीं | के अदृष्ट से नहीं |
| ७१/२८ | आत्मप्रवेश, | आत्मप्रदेश |
| ७४/२६ | प्रघा | श्रद्धा |
| ७६/१२ | कारीका | कारिका |
| ८२/२ | चतुर्थ | चतुर्थ |
| ८२/१३ | होन | होती |
| ८८/२६ | माया | (१) माया |
| ८०/३१ | प्रशस्ति | प्रशस्त |
| ८३/२७ | लाकोक्ति | लोकोक्ति |
| ८६/२६ | पाठ धर्म | पाठ से धर्म |
| ९८/१० | प्रधान | प्रधान |
| १०४/२७ | बुद्धि | बुद्धि में |
| ११३/६ | बन्ध, | बन्धः |
| १२०/१८ | क्रा | का |
| १२३/२ | रवा | रचा |

